ऍम. ए. उत्तरार्द्ध (संस्कृत) सेमेस्टर - ४

प्रश्न पत्र: सी ४०२

संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण

मुक्त शिक्षा विद्यालय

(मुक्त शिक्षा परिसर)

दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्य शास्त्र

—संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण—

समाधेय प्रश्न

पाठ–1

1. संस्कृत काव्यशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास पर एक निबन्ध लिखिए।
2. संस्कृत काव्यशास्त्र का विषय-विभाजन कीजिए।

पाठ–3

1. संस्कृत काव्यशास्त्र का वर्गीकरण प्रदर्शित कीजिए।
2. रससिद्धान्त अथवा ध्वनिसिद्धान्त पर विस्तारपूर्वक प्रभाव डालिये।

पाठ–4

1. वक्रोक्ति पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।
2. रीति सिद्धान्त अथवा औचित्य सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।

पाठ–5–10

1. काव्यशास्त्र के आचार्यों में भरतमुनि का स्थान निर्धारित करते हुए नाट्‌यशास्त्र का विस्तरशः परिचय दीजिये।
2. 'भामह अथवा दण्डी की काव्यशास्त्र को देन' पर एक निबन्ध लिखिये।
3. निम्नलिखित आचार्यों तथा उनकी कृतियों पर विस्तृत टिप्पणी दीजिये–

   वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ।

1
संस्कृत काव्य-शास्त्र का सर्वेक्षण उद्भव और विकास

काव्यशास्त्र के उद्भव के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जिसके कारण अनेक उद्भावनायें प्रचलित हैं। सर्वप्रथम राजशेखर ने काव्य मीमांसा में इस शास्त्र के उद्भव और विकास का एक रोचक कथानक प्रस्तुत किया है। उनका यह कथानक पौराणिक शैली पर आधारित है तथा उसका अधिकांश भाग काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि जिन आचार्यों को उद्भावक आचार्य माना गया है, उनमें अधिकांश आचार्यों की न तो कृतियाँ उपलब्ध हैं और न ही उनकी अन्यत्र चर्चा। अतः इसमें प्रामाणिक तत्त्व अल्प हैं। उनके अनुसार प्रारम्भ में भगवान् श्रीकण्ठ ने काव्यविद्या का उपदेश परमेष्ठी वैकुण्ठादि चौंसठ शिष्यों को दिया। उनमें से प्रथम शिष्य ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अयोनिज ऋषियों को दिया। इनमें सरस्वती पुत्र 'काव्यपुरुष' भी था। ब्रह्मदेव ने आशीर्वाद देते हुए इस विद्या के प्रचारार्थ आदेश दिया। काव्यपुरुष ने इस का उपदेश अठारह भागों में विभक्त कर शिष्यों को प्रदान किया और शिष्यों ने अपने-अपने विषय पर पृथक् पृथक् ग्रंथों की रचना की।

'सहस्त्राक्ष इन्द्र ने कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण का निर्माण किया। इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्तिविषयक, सुवर्णनाभ ने रीति विषयक, प्रचेता ने अनुप्रास विषयक, यम ने यमक, चित्राङ्गद ने चित्रकाव्य, शेष ने शब्दश्लेष, पुलस्त्य ने वास्तव, औपकायन ने उपमा, पाराशर ने अतिशयोक्ति, उतथ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकार, कामदेव ने विनोद, भरत ने नाट्य, नन्दिकेश्वर ने रस, वृहस्पति ने दोष, उपमन्यु ने गुण और कुचुमार ने औपनिषदिक विषयों पर स्वतंत्र रूप से ग्रन्थों का निर्माण किया।

''तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभ आनुप्रासिक प्रचेताः यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं लंत्पुरस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमार इति''

[काव्यमीमांसा, प्रथमोऽध्यायः]

काव्यशास्त्र के उद्गम का यह ऐतिहासिक विवरण काल्पनिक अधिक है। इस कथ्य से मात्र इस तथ्य की अवश्य प्रतीति होती है कि काव्यशास्त्र का विषय अत्यधिक व्यापक और विशाल है। नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत को मात्र नाट्य का उद्भावक आचार्य माना गया है। जबकि नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रस का विस्तृत सांगोपांग वर्णन है, परन्तु राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का प्रथम आचार्य माना है। जबकि रस का प्रतिपादन करने वाला उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

चतुर्वेद और वेदाङ्गों में काव्यशास्त्रीय तत्त्व

भारतीय मनीषी अपने चिन्तन का आधार ऋग्वेद को मानकर स्वयं को तथा अपने सिद्धान्त को गौरवान्वित मानते हैं। यही कारण है कि कथ्य का मूलतत्त्व वेदों में खोजने की परम्परा अनवरत काल से चली आ रही है। भरत मुनि ने अनेक नाट्य शास्त्रीय तत्त्वों की उत्पत्ति वेदों से मानी है। नाट्य को वे 'वेदसम्मितः (1.4) मानते हैं तथा नाट्य के चारों मुख्य तत्त्व पाठ्य, गीत, अभिनय और रस, क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद से मानते हैं

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादिपि।।

[नाटयशास्त्र 1.17]

इसके अतिरिक्त भारती आदि चारों वृत्तियों का सम्बन्ध भी ऋग्वेदादि से निरूपित किया है। अतः ऋग्वेद में काव्यशास्त्र के बीज मानना काव्यशास्त्रीय परम्परा है।

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ तथा अपौरुषेय एवं धर्मग्रंथ माना जाता है। इसमें श्रेष्ठ काव्य के अनेक गुण प्राप्त होते हैं परन्तु श्रेष्ठत्व का उन्मेष भी अपूर्व जिज्ञासा से युक्त है। काव्य के अतिशय की जिज्ञासा अनुपम है। यथा

''का तेऽस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः'' ऋ. 7.29.3

इस मंत्र में सूक्ति-शोभन कथन और अरङ्कृतिः—शोभा सम्पन्न कथन का अतीव समन्वय श्रेष्ठत्व की ओर सूचित करता है। सूक्तिं ही काव्य है—यही वक्रोक्ति—सुन्दर उक्ति है। अरङ्कृतिः ही अलङ्कृतिः है। निश्चित ही इस कथन में गुणालंकार के निरूपण का संकेत है। ऋषि का कथन है कि वह अपनी वाणी से देवता के समक्ष सशक्त और नवीन मंत्रों का निर्माण करता है—

"प्रतव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये
वाचो मतिं सह सः सूनवेभरे।।" ऋग्वेद 1.143.1

'सूक्ति' 'सुष्टुतिः' 'नवानि' 'नव्यसीं' आदि पदों का ऋग्वेद में अनेक बार प्रयोग हुआ है—

1. सूक्तेन वचसा नवेन—ऋ. 2.18.3
2. का सुष्टुतिः शतसः सुनुमिद्र—
   मर्वाचीनं राधस आ ववर्तत्। 4.24.1
3. नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय। 9.9.9
4. सूक्तेन वचसा नवेन।
5. नव्यसीभिर्गीभिः।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋषि नवीन सूक्तियों के प्रति सचेष्ट है। यह जिज्ञासा को काव्य के गुणों की जन्मदात्री है। काव्यनिर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए ऋषि कहता है—

'सक्तुमिव तितउनापुनन्तो
यत्रधीरा मनसा वाचमक्रत'
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहताधिवाचि।। [ऋग्वेद 10.71.2]

बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी कवित्वमय वाणी से इस प्रकार पदों का निर्माण करता है, जिस प्रकार कि जौ को हवा में उड़ाने से भूसा अलग हो जाता है और अन्न अलग हो जाता है। इस प्रकार इस मंत्र में गुण-दोष का स्पष्ट संकेत है। इसमें काव्य के गुणमयत्व और निर्दोषत्व का प्रतिपादन है। कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ पदों का चयन करता है। मनीषी ही उस अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ है। यथा

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच—
मुत त्वः श्रृण्वन्नश्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्ये उशती सुवासाः। ऋ. 1.71.4

अन्तिम उपमा ऋषि को अत्यधिक प्रिय है अतः वह इसका पुनरपि प्रयोग करता है—

'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची
गर्तारुगिव सनये धनानाम्'
जायेव पत्य उशती सुवासा
स्रे उषाव निरिणीते अप्सः।। ऋ. 1.18.7

इसमें एक साथ चार उपमाओं का अनुपम सौन्दर्य परिलक्षित हो रहा है। निम्नलिखित मंत्र में अतिशयोक्ति का सुन्दर प्रयोग है—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकषीति।। ऋ. 1.164.20

काव्य मीमांसा में राजशेखर ने तथा रसगंगाधर में जगन्नाथ ने उसका उल्लेख किया है। काव्य की मनोहर भाषा में दार्शनिक तत्त्व का गहनतम चिन्तन अपूर्व है। इसमें अनेक अलंकारों का वैचित्र्य स्पष्ट है। अनुप्रास, विभावना विशेषोक्ति,

अतिशयोक्ति आदि अलंकार एक साथ अनुपम सौन्दर्य उत्पन्न कर रहे हैं। काव्य वृक्षस्थानीय है जिसका निर्माण कवि करता है परन्तु उसके फल (रस) का भोक्ता सहृदय है। इस तथ्य का संकेत भी यहाँ दृश्यगोचर हो रहा है। सुपर्ण प्रतिभा तत्त्व है। इसी प्रकार अन्य अनेक मंत्रों में साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का सुन्दर समावेश मिलता है। उषा की प्रातःकालीन सुनहरी, सुन्दर परिधान युक्त सद्यः स्नाता सूनरी की भाँति अलौकिक आभा कितनी मनोरम है कि उसका वह अनेक बार वर्णन करता है। ऋग्वेद में सुन्दर, गुणसम्पन्न मधुर काव्य की उपलब्धि होती है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध न होने पर भी यत्र तत्र उसके न्योनत्व का निर्देश अवश्य है।

वेदाङ्गों (निरुक्त और व्याकरण) का काव्यशास्त्रीय चिन्तन में विशेष महत्त्व है। उपमा अलंकार समग्र अलंकारों का बीज है—इसका विवेचन निरुक्त में शास्त्रीय ढंग से उपलब्ध है। यास्क ने गार्ग्यकृत उपमा विवेचन का उल्लेख किया है—

यद् अतत् तत्सदृशं इति उपमा।

उपमा वहाँ होती है, जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। गुणगत समानता का निर्देश इसी सन्दर्भ में है। यह साधर्म्य (तत्सदृशं) ही उपमा का प्रमुख तत्त्व है।

इसके अतिरिक्त प्रशंसावाचक सिंह' और 'व्याघ्र' तथा निन्दावाचक 'श्वन्' और 'काक' शब्दों का लोकप्रिय उदाहरण निरुक्त में उपलब्ध हैं। 'सिंहः पुरुषः' 'काकः पुरुषः' आदि लुप्तोपमा के उदाहरण हैं। यास्काचार्य ने कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, और लुप्तोपमा आदि उपमा के अनेक भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है। 'सिंहः पुरुषः में रूपकालंकार भी स्पष्ट है। इस प्रकार उपमा अलंकार का सर्वप्रथम शास्त्रीय चिन्तन यास्काचार्यकृत 'निरुक्तमीमांसा' में उपलब्ध है।

व्याकरण को विद्याओं का मुख माना गया है। वैयाकरण को प्रथम विद्वान् स्वीकृत किया जाता है 'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः (ध्वन्यालोक)'। पाणिनि प्रथम वैयाकरण हैं। पाणिनि ने नटसूत्रों के रचयिता—शिलाली और कृशाश्व का उल्लेख किया है।

'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।' 4.3.110

कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। 4.3.111

परन्तु शिलाली और कृशाश्व के नटसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। रस पद का 'रसादिभ्यश्च (5.2.95) में उल्लेख हुआ है और पतञ्जलि ने 'रसिकोनटः' उदाहरण दिया है। पाणिनि व्याकरण में उपमा अलंकार के उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक पदों का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है—

उपमानानि सामान्यवचनैः। 2.1.55

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे 2.1.56

'श्रौती' और 'आर्थी' उपमा का विस्तृत विवेचन व्याकरणशास्त्र में है, जिसका कि विवेचन मम्मट, विश्वनाथादि आचार्यों ने किया है।

शब्द, अर्थ और शक्ति के विवेचन में काव्यशास्त्र व्याकरण का अनुगामी है। 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' को ही प्रमाण मानकर जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य पर संकेत मानकर मम्मटादि ने उसका विवेचन किया है। व्याकरण के स्फोटवाद का आश्रय लेकर आनन्दवर्धन ने व्यंजना का सुन्दर प्रासाद निर्मित किया है।

वेंद, निरुक्त और व्याकरण के अतिरिक्त आदिकवि वाल्मीकि के रामायण में ऐसे अनेक तत्त्व प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके समय में काव्यशास्त्र का चिन्तन प्रवर्तित था। कावयित्री प्रतिभा सम्पन्न वाल्मीकि में भावयित्री प्रतिभा की भी उपलब्धि होती है। रामायण से अधिक प्रख्यात कोई अन्य काव्य नहीं है, और उसका क्रौञ्च वध वृत्तान्त अत्यधिक प्रख्यात है। इसका उल्लेख आनन्दवर्धन, राजशेखर आदि आचार्यों ने किया है। वाल्मीकि ने व्याघ द्वारा निर्मम प्रहार से आहत, रक्त से लथपथ क्रौञ्च और ठीक उसी के ऊपर आकाश में गोल घूमती हुई करुणक्रन्दन युक्त क्रौञ्ची को देखकर भाव विह्वल होकर कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

वाल्मीकि का यह शोक ही श्लोक बन गया—इसका उल्लेख रामायण में ही उपलब्ध है—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतोमहर्षिणा।

सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः।।
[बालकाण्ड 2.40]

महाकवि कालिदास और आनन्दवर्धन इस घटना का उल्लेख करते हैं

तामभ्यगच्छद रुदितानुसारी
कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।। [रघुवंश 14.70]

काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेःपुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।
[ध्वन्यालोक 1.5]

काव्य के प्रणयन के अनन्तर ही उसका चिन्तन प्रारम्भ हुआ। रामायण में 'उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैः (2.42), 'सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्' (2.43) आदि काव्यशास्त्रीय चिन्तन परिधि में आते हैं। यह रामायण 'पाठ्य और गेय में मधुर हैं [पाठ्ये गेये च मधुरम् 4.8] तथा कर्णप्रिय है। रामायण इन्द्रियतृप्ति, मनोरंजन और हृदय के लिए भी अपूर्व आनन्द का संचार करने वाला प्रवर काव्य है;

'ह्लादयत्सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च [बा. 4.34]
'संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनः प्रह्लादनानि च।।' [अरण्यकाण्ड 16.39]

प्रीति के लिए ही कवि काव्य का निर्माण करता है और मनः प्रह्लाद ही उसका अर्थात् काव्य का उत्तमोत्तम प्रयोजन है। परन्तु नाट्य अथवा काव्य का सुव्यवस्थित चिन्तन भरत के नाट्यशास्त्र से ही प्रारम्भ होता है जिसकी मुख्यधारा रसगंगाधरकार जगन्नाथ तक विस्तृत है। नाट्यशास्त्रीय चिन्तन में भरत, धनञ्जय, रामचन्द्रगुणचन्द तथा विश्वनाथ आदि प्रमुख आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र की प्रधानता सर्वत्र परिलक्षित होती है। यह एक ऐसा महनीय ग्रन्थ है, जिसकी उपेक्षा करने का साहस किसी भी आचार्य को न हो सका अपितु 'मुनिमतप्रमाणमं' कहकर उसका समादर किया गया।

काव्यशास्त्र प्रारम्भ में नाटयशास्त्र का अंग होकर प्रवर्तित हुआ। भरत के नाट्यशास्त्र में अलंकारों, गुणों, दोषों आदि का भी विवेचन है, जो परिवर्तीकाल में काव्यशास्त्र की चिन्तन सीमा में ही आबद्ध मिलते हैं। काव्य का स्वतंत्र चिन्तन भामह के काव्यालंकार से प्रवर्तित हुआ। दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह, वामन का काव्यालंकारसूत्रवृत्तिग्रंथ प्रारंभिक रचनायें हैं। आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवित, अभिनवगुप्त का ध्वन्यालोकलोचन तथा अभिनवभारती, महिमभट्ट कृत व्यक्तिविवेक और मम्मटकृत काव्यप्रकाश मध्यकाल की श्रेष्ठतम कृतियाँ हैं। इसके बाद रुय्यक का अलंकारसर्वस्व, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण और जगन्नाथ का रसगंगाधर परवर्ती काल की अद्वितीय प्रख्यात रचनायें हैं।

इस प्रकार भरत से लेकर आचार्य जगन्नाथ पर्यन्त लगभग दो हजार वर्ष का काव्यशास्त्र का इतिहास है, जिसमें चिन्तन, मनन, उद्भावन, खण्डन और मण्डन निरन्तर होता रहा और यह एक हीरे की तरह सदैव निखरता ही गया।

काव्यशास्त्र के विविध नाम

आज काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करने वाले शास्त्र का सर्वाधिक प्रख्यात नाम अलंकारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र है परन्तु प्रारम्भ में इस शास्त्र का नाम 'काव्यालंकार' प्रतीत होता है क्योंकि काव्य में अलंकारों का प्राधान्य विवक्षित था। अलंकारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र की अपेक्षा प्रचलित नाम काव्यशास्त्र है, अतः समय समय पर इस शास्त्र का नाम भिन्न-भिन्न तत्त्वों के आधार पर प्रचलित हुआ।

1. काव्यालंकार

काव्य सौन्दर्य की विवेचना करने वाले शास्त्र का नाम 'काव्यशास्त्र है। भामह, उद्भट वामनादि आचार्य इसे काव्यालंकार से अभिहित करते हैं। इसीलिये भामह के कारिकाबद्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार' और उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' तथा, सूत्र-वृत्तिबद्ध 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में वामन को 'अलंकार' पद का प्राधान्य अभिप्रेत रहा। अतः प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य-तत्त्वों का विवेचन करने वाले शास्त्र का नाम 'काव्यालंकार' रखा। 'काव्यालंकार में अलंकार पद मात्र शब्द-अर्थालंकार से

सम्बन्धित नहीं है अपितु अलंकार शब्द सौन्दर्य का पर्यायवाची पद था। वामन ने 'सौन्दर्यमअलंकारः' सूत्र लिखकर अलंकार पद का सौन्दर्य अर्थ किया। दण्डी ने भी 'काव्यशोभाकर धर्म को अलंकार कहा है। अतः काव्य-सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले शास्त्र का नाम **'काव्यालंकार'** था। 'काव्यालंकार' के अन्तर्गत प्रायः काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, गुण, दोष, रीति अलंकार आदि तत्त्वों का विवेचन हुआ।

2. अलंकारशास्त्र

काव्यालंकार के स्थान पर **'अलंकारशास्त्र'** भी प्रचलित नाम मिलता है। इसमें अलंकार पद साध्य न होकर साधनपरक अर्थ लेकर प्रवृत्त हुआ औ यद्यपि अन्य अनेक तत्त्वों का विवेचन करने पर भी प्राधांन्येन अलंकारों का प्रतिपादन करने के कारण इस शास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' हुआ। यथा 'यद्यपि रसालंड्कारायनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते'' (प्रतापरुद्रीय)

यद्यपि रस, अलंकार आदि अनेक विषयों का इस शास्त्र में विवेचन होता है तथापि छत्रिन्याय से (अलंकार का प्राधान्य होने के कारण) इसे अलंकारशास्त्र कहते हैं।

3. काव्यशास्त्र

काव्यालंकार प्रारम्भिक आचार्यो द्वारा प्रदत्त नाम था परन्तु इसका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिये, इसे शास्त्र प्रमाणित तथ्यों का कथन करने के फलस्वरूप काव्यशास्त्र कहा गया। काव्यशास्त्र में शास्त्रपद का अर्थ 'अनुशासन' या प्रवृत्ति-निवृत्तिपरक नहीं है'। क्योंकि काव्य का मुख्य प्रयोजन रसास्वादन है अनुशासन नहीं। अतः शास्त्र पद का दूसरा अर्थ 'रहस्य प्रतिपादन' है। अतः काव्यरहस्यों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का नाम काव्यशास्त्र उपयुक्त है। भोजराज ने अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में विधि-निषेध का ज्ञान काव्य, शास्त्र और इतिहास से होता है। इन तीनों के मिश्रण के अन्य तीन काव्यशास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास षड्विध प्रयोग होता है—

'काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।। [सरस्वतीकण्ठाभरण 2.139]

अतः भोज ने इस शास्त्र के गौरव की वृद्धि के लिये 'काव्य' के साथ 'शास्त्र' पद जोड़कर प्रयोग किया और प्रचलित नामों में 'काव्यशास्त्र' नाम का प्राधान्य हुआ।

4.साहित्यशास्त्र

काव्यशास्त्र के समान ही 'साहित्यशास्त्र' प्रख्यात नाम है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' में सहितपद का साभिप्राय प्रयोग किया है। राजशेखर ने 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' लिखकर साहित्यपद का अर्थ निर्धारित किया। कुन्तक ने परस्परस्पर्धित्व' और 'अन्यूनातिरिक्तत्वं को साहित्य कहा। परन्तु शास्त्र के लिये 'साहित्यशास्त्र' पद सम्भवतः रुय्यक रचित 'साहित्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ से प्रचलित हुआ। 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने साहित्यपद के प्रयोग को मान्यता दी। इस प्रकार भामह से विश्वनाथ तक साहित्यशास्त्र पद भी काव्य के सौन्दर्य की गवेषणा करने वाले शास्त्र के लिए प्रचलित हुआ।

5. क्रियाकल्प

काव्य के चारुत्व का निर्धारण करने वाले शास्त्र के लिये प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' मिलता है। रामायण में सर्वप्रथम इस पद का प्रयोग हुआ है।

'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदोजनान्।। [रामायण, उत्तर 947]

यहाँ 'क्रियाकल्पविद्' और 'काव्यविद् दो पदों का प्रयोग हुआ हैं। 'काव्यविद् पद का अर्थ केवल काव्यरस को ग्रहण करने वाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है जबकि क्रियाकल्पविद् का अर्थ काव्यसौन्दर्य की परीक्षा करने में समर्थ व्यक्ति है। कामशास्त्र में भी यह पद प्रयुक्त है, जिसका अर्थ जयमंगलार्क ने क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थ काव्यालंकार किया है।

इस प्रकार कालक्रमानुसार काव्य सौन्दर्य की परख करने वाले शास्त्र के नाम—क्रियाकल्प, काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र हैं। इन पाँच नामों में से अन्तिम दो नाम सर्वाधिक प्रख्यात और प्रचलित हैं।

वाङ्मय में काव्यशास्त्र का स्थान

मानव की सबसे बड़ी उपलब्धि 'वाक्' है। ऋग्वेद में रूपवान् की स्तुति की गई है और अलंकाररहित या रसविहीन 'वाक् की निन्दा भी है [ऋग्वेद 10.71.5] दण्डी के अनुसार 'वाणी से ही लोकयात्रा प्रवर्तित होती है' तथा यदि यह तत्त्व न होता तो संसार अन्धकाराच्छन्न होता–

'वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते, 1.3
'इदमन्धतमःकृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।।
[काव्यादर्श 1.4]

वाक् पद का अर्थ शब्द और अर्थ दोनों है [वक्तीतिवाक् जिसे कहता है वह वाक्। उच्यते इति वाक् = जो कहा जाता है] अतः सार्थक पद का महत्त्व और उससे निष्पन्न वाङ्मय की उपादेयता चिरन्तन है।

वाङ्मय के विभाजन में काव्य अथवा काव्यशास्त्र की परिगणना कहीं भी उपलब्ध नहीं है। राजशेखर काव्यशास्त्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में सचेष्ट हैं। उनके अनुसार वाङ्मय-शास्त्र और काव्य नाम से दो प्रकार का होता है। शास्त्र पुनः अपौरुषेय और पौरुषेय नाम से विभक्त है। अपौरुषेय वाङ्मय के अन्तर्गत चारों वेद तथा छ वेदाङ्ग (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद 4, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिबन्छ) मिलाकर दश हैं। पौरुषेय वाङ्मय में पुराण, न्याय, मीमांसा और स्मृतिग्रन्थ (धर्मशास्त्र) चार हैं। इस प्रकार अपौरुषेय और पौरुषेय विभाजन मिलाकर चौदह होते हैं। इन्हें 'चतुर्दश विद्यास्थान' कहा जाता है। यहाँ काव्यशास्त्र का नाम नहीं है। इसीलिये राजशेखर पन्द्रहवाँ विद्यास्थान काव्य को मानते हैं–

'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्'' [काव्यमीमांसा–2 अध्याये]

इसके अतिरिक्त राजशेखर छः वेदाङ्गों के अतिरिक्त सातवाँ वेदाङ्ग अलंकारशास्त्र मानते हैं–

उपकारकत्वादलंकारः सप्तमङ्गम्"

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति – ये चार विद्याये हैं। राजशेखर 'साहित्य विद्या' को पाँचवी विद्या मानते हैं।
'पंचमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।'

इस प्रकार विद्यास्थान, वेदाङ्ग और विद्या में साहित्यशास्त्र को स्थान दिलाने का श्रेय राजशेखर को है।

'दण्डी ने काव्यादर्श में समस्त वाङ्मय का विभाजन 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' में किया है। स्वभावोक्ति में मात्र वस्तुस्वरूपवर्णन होता है तथ वक्रोक्ति में सालंकारवचन होते हैं। वक्रोक्ति का विवेचन काव्यशास्त्र की परिधि है। कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' लिखकर इस तथ्य की पुष्टि की है। दण्डी का यह विभाजन 'भिन्नं द्विधास्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।। (काव्यादर्श 2-363) भोज को मान्य नहीं। उन्होने समस्त वाङ्मय का विभाजन तीन आधार मानकर किया है–वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। वक्रोक्ति में अलंकारों तथा रसोक्ति में विभावादि का प्रतिपादन होता है। वाङ्मय के विभाजन की यह रीति दण्डी और भोज तक सीमित है।

शैलीगत विभाजन

समस्त वाङ्मय का विभाजन शैली के आधार पर भट्टनायक से प्रारम्भ हुआ। वेदत्व, पुराणत्व और काव्यत्व–तीन मुख्य शैलीगत तत्त्व हैं। भट्टनायक के अनुसार शब्द के प्राधान्य का आश्रय लेकर शास्त्र (वेद) प्रवर्तित होता है। अर्थतत्त्व का प्राधान्य आख्यान (पुराण) में होता है तथा व्यापार का प्राधान्य काव्य में होता है–

'शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्।। [ध्वन्यालोक लोचन 1.5 के अन्तर्गत]

शब्दतत्त्व, अर्थतत्त्व और व्यापारतत्त्व का यहाँ पर कथनशैली के आधार हैं। शास्त्र या वेद में शब्दतत्त्व का प्राधान्य है जिसे अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने 'प्रभुसम्मित' कहा है। अर्थतत्त्व का प्राधान्य पुराणादि में है, जो 'मित्रसम्मिततुल्य' है। व्यापार का प्राधान्य काव्य में है जो 'कान्तासम्मितत्त्व' कहलाता है। भट्टनायक का यह विभाजन अत्यधिक मौलिक और तर्कसंगत है।

यही कारण है कि इसी का अनुसरण परवर्ती काल में हुआ।

अग्निपुराण के अनुसार–

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वामितिहासेऽर्थनिष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते।

[अग्निपुराण 337.2]

काव्य में अभिधा का प्रामुख्य होता है। इस त्रिविध शैली का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त ने अनेक बार किया है।

1. 'प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो, मित्रसाम्मतेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पतिहेतोर्जायासंमितत्त्व लक्षणो विशेषइति।

[ध्व.लोचन. 1.1 की व्याख्या पर]

2. 'इह प्रभुसम्मितेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिदमित्याज्ञामात्र परमार्थेभ्यः युक्तियुक्त कर्मफल सम्बन्ध प्रकटनकारिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यः इतिहासशास्त्रेभ्यः....।

[ध्व.लोचन. 3.14 का व्याख्या पद]

3. प्रभुमित्रसम्मितेभ्यः शास्त्रेतिहासेभ्यः प्रीतिपूर्वकं जायासम्मितत्त्वेन...।

[ध्व. लोचन. 3.30 की व्याख्या]

अभिनवगुप्त ने 'जायासमितत्त्व' पद का प्रयोग किया है। इस पद की अपेक्षा कान्तासम्मितत्त्व' अधिक औचित्यपूर्ण और अर्थगाम्भीर्य से युक्त है। मम्मट ने तीनों शैलियों को मानकर 'जाया' पद के स्थान पर 'कान्ता' पद का सार्थक प्रयोग किया है। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे. काव्यप्रकाश 1.2

प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मिततात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्कात्त लोकोव्यंरवर्णना निपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य [काव्यप्रकाश. 1.2 परवृत्ति]

उपर्युक्त कथनों का सुन्दरतम विवेचन श्लोकबद्ध विद्याधर की एकावली में प्राप्त है–

'शब्दप्रधानं वेदाख्यं प्रभुसंमितमुच्यते।
ईषत्पाठान्यथापाठे प्रत्यवायस्य दर्शनात्।।
इतिहासादिकं शास्त्रं मित्रसंमित मुच्यते।
अस्यार्थवादरूपत्वात् कथ्यतेऽर्थप्रधानता।।
ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमीरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यञ्जनप्रवणं यतः।। [एकावली. 1.4.6]

काव्य कान्तासम्मितशैली से युक्त होता है। इस व्यापार प्राधान्य शैली का विवेचन काव्यशास्त्र में होता है। अभिधा, लक्षणा व्यापारद्वय के अतिरिक्त व्यंजना व्यापार का विवेचन ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण रसगंगाधर आदि ग्रन्थों में मिलता है।

इस प्रकार काव्य और काव्यशास्त्र का वाङ्मय में अप्रतिम स्थान है।

काव्यशास्त्र के विषय

भामह के पूर्व काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था और उसका चिन्तन नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के चिन्तन में किया जाता था। भरत के नाट्यशास्त्र में गुण, अलंकार और दोषों का विवेचन है। भरत के अनन्तर काव्यशास्त्रीय विषयों का स्वतंत्र रूप से प्रारम्भ हुआ और दण्डी तथा भामह विरचित ग्रन्थों में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का चिन्तन नहीं मिलता। आगे चलकर तीन प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रथम वे जिनमें मात्र नाट्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन है। नाट्यशास्त्र के अनन्तर धनञ्जय कृत 'दशरूपक', रामचन्द्र रचित 'नाट्यदर्पण' आदि प्रमुख हैं। दूसरे वे ग्रन्थ हैं जिनमें केवल काव्यशास्त्रीय विषयों का आद्योपान्त सूक्ष्म विवेचन मिलता है। ऐसे ग्रन्थों का बाहुल्य है। भामह से यह प्रथा प्रारम्भ हुई। दण्डी, उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, जगन्नाथ आदि ऐसे आचार्य है, जिनके ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र के विषयों का चिन्तन नहीं है। तीसरे वे ग्रन्थ हैं, जिनमें दोनों विषयों का प्रतिपादन उपलब्ध है भोज विरचित श्रृंगारप्रकाश से यह पद्धति प्रवर्तित हुई और प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में प्राप्त है।

काव्यशास्त्र की परिधि में जिन-जिन विषयों का समावेश किया गया है, उसका सर्वप्रथम दिग्दर्शन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

की कामधेनु नामक टीका में उपलब्ध है। उसके अनुसार 'प्रमेयतत्त्व' निम्न हैं—

"प्रथमं काव्यशरीरम्। तदनु दोषाः। ततो गुणाः। तदनन्तरमलंकाराः। ततः शब्दप्रयोगशैलीति"

वास्तव में टीकाकार गोपेन्द त्रिपुहरभूपाल का उपर्युक्त कथन वामन द्वारा वर्णित विषयों के सन्दर्भ में है। भामह तथा वामन के ग्रन्थों में शब्द-प्रयोगयोग्यता का विवेचन है परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस विषय का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र व्याकरण है—मानकर छोड़ दिया। अतः समस्त काव्यशास्त्र के ग्रन्थों को एक विहंगम दृष्टि से देखेंगे पर निम्न विषय उनमें वर्णित होते हैं।

काव्य प्रयोजन

काव्यशास्त्र का प्रथम विषय काव्य के प्रयोजन का निरूपण है। भरत से लेकर आज तक काव्य के उद्देश्यों का चिन्तन प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। काव्य-निर्माण के महनीय उद्देश्य और उसके अध्ययन के प्रयोजन का निरूपण अलग अलग और एक साथ भी हुआ। कीर्ति और प्रीति मुख्य काव्य प्रयोजन हैं। कवि अविरल कीर्ति की प्राप्ति तथा सामाजिक प्रीति (आनन्द) प्राप्ति के लिए काव्य का निर्माण और निवेषण करता है। पुरुषार्थ चतुष्टय का निरूपण भामह, कुन्तक, विश्वनाथ ने किया है।

काव्यहेतु

काव्य-निर्माण के लिये अपेक्षित गुणों की चर्चा काव्य हेतु के अन्तर्गत हुई। भामह, राजशेखर, जगन्नाथ आदि आचार्य प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी) की ही एकमात्र काव्य के लिये बीज है। दण्डी, वामन, मम्मट आदि चिन्तकों ने प्रतिभा (बीज) व्युत्पत्ति (धरा) और अभ्यास (जल)—तीनों को सम्मिलित रूप से काव्यहेतु निरूपित किया है।

काव्य-लक्षण

वाङ्मय की अन्यविधाओं से काव्य को अलग करने वाले तत्त्वों का चिन्तन इसके अन्तर्गत हुआ है। इसके चिन्तन में शब्द और अर्थ के साथ ही साथ उस असाधारण तत्त्व का भी विमर्श उपलब्ध है जो उसकी आत्मा हो सकती है। प्रारम्भ से ही दो दृष्टियों से काव्यलक्षण प्रवृत्त हुआ। दण्डी, अग्निपुराणकार, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति आचार्य काव्य को शब्दनिष्ठ और भामह, कुन्तक, मम्मट आदि आचार्य शब्दार्थोभय निष्ठ मानते हैं। केवल शब्द या शब्दार्थ काव्य नहीं हो सकता अतः रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द, इष्टार्थव्यवच्छिन्न पद अथवा रसात्मक वाक्य काव्य हैं। अन्यों ने दोषाभाव, गुणसद्भाव, अलंकारयोग और रसावियोगत्व शब्दार्थ का निरूपण किया है।

काव्यगत वैशिष्टय

इसके अन्तर्गत गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार—इन चारों का निरूपण हुआ—क्योंकि काव्य को काव्यत्व पद प्राप्त कराने के ये ही साधन हैं। ये विधिपरक तत्त्व हैं। निषेधपरक तत्त्व दोष है। अतः काव्यगत गुणों के साथ साथ दोषों का विवेचन हुआ है क्योंकि गुण उपादेय तत्त्व है और दोष अनुपादेय तत्त्व।

शब्दशक्ति

शक्ति का स्वतंत्र रूप से विवेचन करने वाले ग्रन्थों की संख्या अधिक है। मुकुलभट्ट कृत अभिधावृत्तिमातृका, मम्मट कृत 'शब्दव्यापारविचार' और आशाधर भट्ट कृत 'त्रिवेणिका' प्रमुख हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना स्वीकृत वृत्तियाँ हैं। इनका विवेचन काव्यशास्त्र का विषय है। इन्हीं के साथ वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य—त्रिविध अर्थो तथा वाचक, लक्षक और व्यंजक त्रिविध शब्दों का भी प्रतिपादन हुआ है।

आत्मतत्त्व

काव्य की आत्मा क्या है—इस विषय पर अनेक प्रस्थान प्रचलित हैं। आत्मतत्त्व की गवेषणा से अलंकार शास्त्र का विपुल साहित्य गौरवान्वित है। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य—इन छः तत्त्वों को काव्य की आत्मा मानने वाले अलग-अलग आचार्य हैं। एक एक तत्त्व को लेकर उसका विवेचन करने वाले स्वतंत्र ग्रंथ हैं। अलंकार तत्त्व की गवेषणा उत्तरोत्तर बढ़ती रही। उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह और रुय्यक का अलंकार सर्वस्व—केवल अलंकार चर्चा के प्रमुख ग्रन्थ हैं। ध्वन्यालोक का ध्वनिप्रस्थान से, वक्रोक्तिजीवित का वक्रोक्तिप्रस्थान से विशेषकर सम्बन्ध है। शृंगारतिलक, रसतरंगिणी आदि ग्रन्थों में केवल रस तत्त्व का प्रतिपादन है। यद्यपि रस का विवेचन प्राय अलंकार की भाँति काव्यशास्त्र के अधिकांश

ग्रन्थों में हुआ है तथापि उसका शास्त्रीय स्वरूप नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती में उपलब्ध है। यशस्तिलकचम्पू का निम्नश्लोक काव्यशास्त्र के विषयों का प्रतिपादन सुचारू रूप से करता है—

त्रिमूलकं द्वियत्थानं पञ्चशाखं चतुश्छदम्।

योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिंस काव्यकृत्।।

त्रिमूलकम् = लोक, वेद, अध्यात्म अथवा अभिधा, लक्षणा, व्यंजना।

द्विधोत्थानम् = शब्द और अर्थ।

पंचशाखम् = पाँच वृत्तियाँ।

चतुच्छदम् = चार वृत्तियाँ।

नवच्छायम् = नौ रस से पूर्ण।

दशभूमिम् = दशगुण।

त्रिमूलकं के अन्तर्गत प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—तीनों काव्य हेतु भी अभिप्रेत है।

नाट्यशास्त्र के विषयों में 'वस्तु नेता और रस के अतिरिक्त अर्थप्रकृति, कार्यावस्था, सन्धि-सन्ध्यंग, नाट्योक्ति, नाट्यधर्म, अंक, नाट्यभेद, पात्रसंख्या आदि का विवेचन सम्मिलित है। भरत के पश्चात् नाट्यशास्त्रविषयक विषयों का विवेचन भरतानुगत है जबकि काव्यशास्त्र का उत्तरोत्तर विकास हुआ है।

2

पौराणिक काव्यशास्त्र

पुराण साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। पुराण साहित्य का विकास ज्ञान-विज्ञान का विकास है। प्रायः सभी पुराण उर्वर कल्पना से आद्योपान्त ओतप्रोत हैं। ये पुराण सार्ववर्णिक और सर्वजनसुखाय तथा सर्वजनहिताय निर्मित हुए। पुराण पद का प्रयोग अथर्ववेद 11.7.28 में सर्वप्रथम हुआ है–

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

अथर्ववेद के 11.8.7 में पुराणवित् पद का प्रयोग है। आगे चलकर 'इतिहासपुराणम्' पद उपनिषदों में अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है। अतः पुराणों की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है।

निरुक्त में (3.19) 'पुरानवं भवतीति पुराणम्' निरुक्ति प्रदान की गयी है। अट्ठारह पुराणों में प्रायः सर्ग, प्रतिसर्ग, वंशादि की विस्तृत चर्चा है। साहित्यशास्त्रविषयक केवल दो ही पुराण हैं जिनमें स्वतंत्र रूप से काव्यतत्त्वों का सुचारुरूप से प्रतिपादन किया गया है।

(1) अग्निपुराण

(2) विष्णुधर्मोत्तरपुराण

अग्निपुराण के 383 अध्यायों और बारह हजार श्लोकों में से केवल दश अध्यायों (337-346) में ही काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध है। 337 अध्याय में काव्य का लक्षण, काव्य-भेद, कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य का प्रतिपादन किया गया है। 338 अध्याय में नाटयशास्त्र के विषय प्रतिपादित हैं। नाट्य के भेद, प्रस्तावना, अर्थप्रकृति, सन्धि आदि तत्त्वों का निरूपण किया गया है। 339 अध्याय में रस का विवेचन तथा नायक-नायिका भेद प्रतिपादित हैं। 340 अध्याय में चार रीतियों तथा वृत्तियों का वर्णन है। 341 अध्याय में अंग विक्षेपों का वर्णन है जो नृत्य के अवसर पर होते हैं। 342वें अध्याय में चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन है। 343वें अध्याय में शब्दालंकारों तथा 344वें अध्याय में अर्थालंकारों का विवेचन है। 345वें और 346वें अध्याय में क्रमशः गुण तथा दोषों का निरूपण है।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार महेश्वर ने 'काव्यप्रकाशादर्श' नामक टीका में भरत से भी प्राचीन अग्निपुराण को माना है। उनके अनुसार–

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्''।

इसी प्रकार विद्याभूषण रचित 'साहित्यकौमुदी' की टीका में कहा है–

''काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध''

उपर्युक्त दोनों उद्धरण तर्कसंगत नहीं हैं और कपोल-कल्पित प्रतीत होते हैं क्योंकि अग्निपुराण को भरत से पूर्व कथमपि नहीं निरूपित किया जा सकता है। पुराणों का सवर्धन संरचन भी होता रहा है अतः मौलिक अंश की प्राप्ति और प्रक्षिप्त अंश का ज्ञान असम्भव है। 'अग्निपुराण' में यह कहा गया है कि भारती वृत्ति का नाम भरत के आधार पर पड़ा है–

'भरतेन प्रणीतत्त्वाद् भारती वृत्तिरुच्यते'

[अग्निपुराण 339.6]

इस अन्तरंग प्रमाण के आधार पर यह सुनिश्चित है कि अग्निपुराण की रचना के पूर्व भरतप्रोक्त नाट्यशास्त्र विद्यमान था। अतः महेश्वर और विद्याभूषण का कल्पना यर्थाथ नहीं है।

अग्निपुराण में रूपक, उत्प्रेक्षा, विभावना, अपह्नुति आदि अलंकारों का लक्षण दण्डी कृत काव्यादर्श से मिलता है। इसी प्रकार भामह का प्रभाव आक्षेप, समासोक्ति पर्यायोक्त अलंकारों के निरूपण में स्पष्ट है।

अग्निपुराण में यह प्रतिपादित है कि पर्यायोक्त, अपह्नुति, आक्षेपादि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अग्निपुराण बहुत बाद की रचना प्रतीत होती है।

अलंकारशास्त्र के प्राचीन लेखकों में से किसी ने भी अग्निपुराण का अपनी कृतियों में उल्लेख नहीं किया है। विश्वनाथ (14वीं शती) ने सर्वप्रथम साहित्यदर्पण में अग्निपुराण का उल्लेख करते हैं—'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' के अतिरिक्त एक पूरा श्लोक उद्धृत किया गया है। यथा् 'काव्यस्योपादेयत्वमाग्निपुराणेप्युक्तम्— 'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।। [साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद]

यदि अग्निपुराण प्राचीन रचना होती तो अवश्य इसका उल्लेख प्राचीन आचार्य करते। अतः अग्निपुराण के मौलिक अंशों की रचना सातवीं शताब्दी और अलंकारादि प्रकरण सम्भवतः दसवीं शताब्दी के आसपास हुआ हो।

'अग्निपुराण मौलिक कृति नहीं है अपितु प्राचीन मान्यताओं का संग्रह मात्र है। अतः यह मानना उचित है कि उसे सम्भवतः भोजराज से प्रेरणा मिली'' महामहोपाध्याय काणे का यह कथन तर्कसंगत है।

अग्निपुराण की शैली पौराणिक और सरल है। कतिपय उदाहरणों से इस तथ्य की परिपुष्टि होती है—

'काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् [अग्निपुराण 337.7]
गद्यं पद्यं मिश्रं च काव्यादित्रिविधं स्मृतम्।। [अग्निपुराण 337.8]

रस की संख्या दश है—

श्रृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्सादभुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरोरसाः। [अग्निपुराण 339.9]

आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोक से निम्न दो श्लोक उद्धृत हैं—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।
श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत्कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्।।
[अग्निपुराण 339.10.11]

दण्डी के समान अलंकार-लक्षण देखिए—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते''
[अग्निपुराण 342.17]

अग्निपुराणकार अर्थालंकारों को सरस्वती का सौभाग्य चिह्न निरूपित करता है—

'अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।
[अग्निपुराण 344.3]

काव्यगुणों के होने पर ही अलंकारादि की सार्थकता है अन्यथा कुरूपा परन्तु अलंकार समुदाय से सुसज्जित रमणी की भाँति गुणविहीन कविता मनोहारिणी नहीं होगी—

'अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारयते परम्।।
[अग्निपुराण 346.1]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्निपुराण प्राचीन सिद्धान्तों का सार-संकलन है। सार अंश परिपादित करने के लिये जिस वैदुष्य की अपेक्षा होती है, वह अग्निपुराणकार में परिपूर्ण मात्रा में थी। ''अग्निपुराण का लेखक स्वयं सिद्धान्तकार नहीं है और न ही वह किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध है। यह प्राचीन सामग्री का सार-संकलन है''।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

अलंकारादि के विवेचन में दूसरा पुराण 'विष्णुधर्मोत्तर'पुराण है। इसमें नाट्यविषयक सामग्री अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'विष्णुधर्मोत्तर'पुराण का भी प्राचीन आचार्यों ने उल्लेख नहीं किया है। कतियय पूरवर्ती आचार्यों ने अवश्य इसका उल्लेख कर इसका महत्त्व स्वीकृत किया है।

नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र से सम्बन्धित लगभग एक हजार श्लोकों में अनेक विषयों का विवेचन है। यह गद्य और

पद्य दोनों में है। इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्यकला और काव्यशास्त्र को 'चित्रसूत्र' के अन्तर्गत रखा गया है। इसका काव्यशास्त्रीय भाग चौदहवें अध्याय से प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में अलंकारों का विवेचन है। पन्द्रहवें अध्याय में काव्य का निरूपण है तथा उसका इतिहास और शास्त्र से पार्थक्य प्रदर्शित किया गया है। काव्य रसान्वित होना चाहिये। सत्रहवें अध्याय में रूपकों का निरूपण है और उनकी संख्या बारह है। आगे नायक-नायिकाओं का निरूपण है। बीसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि नाट्य का अर्थ है दूसरे का अनुकरण और नृत्त से उसकी शोभा संवर्धित होती है--

"परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञैः कथितं नृपाः।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोसाविवर्धनम्।।

इसके अनन्तर अनेक अध्यायों में नाट्यशास्त्र के विषयों का प्रतिपादन है। तीसवें अध्याय में रस का वर्णन है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में प्रायः नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया गया है। परन्तु भरत के सैकड़ों वर्ष के पश्चात् जो विकास अलंकारशास्त्र के इतिहास में हुआ, उसका भी निर्देश मिलता है। अतः नाट्यशास्त्र के बहुत समय पश्चात् इसकी रचना हुई है। इसका आलंकारिक भाग छठी शती का माना जाता है।

अलंकारों का लक्षण स्पष्ट तथा सरल है। यथा

'यथास्वरूपकथनं स्वभावोक्तिः प्रकीर्तिता।। |41|

सत्रहवें अध्याय में दश रूपकों के अतिरिक्त नाटिका और प्रकरणी का प्रतिपादन है। प्रकरणी की उद्भावना बहुत बाद की है। नाट्य में नवरसों का प्रतिपादन है। यथा--

शृंगारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशान्ताख्या नवनाट्येरसाः स्मृताः।।
|7.ध्री.

नाट्य का मूल रस है--

नाट्यस्य मूलं तु रस [illegible]
रसेन हीनं न हि नृत्तमस्ति।
तस्मात्प्रयत्नेन रसाश्रयस्य
नृत्तस्य यत्नः पुरुषेण कार्यः।।
[विष्णु 30.29]

3

प्रारथानिक वर्गीकरण अथवा सैद्धान्तिक वर्गीकरण (1)

(क) रससिद्धान्त, (ख) ध्वनिसिद्धान्त, (ग) औचित्य सिद्धान्त

अनेक तत्त्वों में एक तत्त्व को प्रधान मानकर, उसका आद्योपान्त वैज्ञानिक विवेचन करना प्रारथानिक विवेचन कहलाता है। प्रस्थान पद का अर्थ है सिद्धान्त। अभिनवगुप्त के अनुसार—'प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम्'' प्रतिष्ठित होते हैं; परम्परा से जिस मार्ग से व्यवहार करते हैं, वह प्रस्थान है [ध्वन्यालोकलोचन 1.1 वृत्ति]

प्रस्थान पद का प्रयोग सर्वप्रथम दण्डी के काव्यादर्श में अनेकत्र हुआ है।

''**प्रस्थानं** प्राक्प्रणीतं तु सारमन्यस्य वर्त्मनः।'' 1.92

''इतिदेशविरोधिन्या वाचः **प्रस्थानमी**दृशम्।'' 3.166

''अथागमविरोधस्य **प्रस्थानमु**पदिश्यते।'' 3.176

आनन्दवर्धन ने भी 'प्रसिद्ध प्रस्थान' पद का प्रयोग परम्परा से प्राप्त मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

'**प्रसिद्धप्रस्थान**व्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः' (ध्व. 1.1 वृत्ति)

''कुन्तक ने 'कवि प्रस्थानहेतु पद का प्रयोग किया है—

''सन्ति तत्र त्रयोमार्गाः कवि**प्रस्थान**हेतवः''

कवीनां **प्रस्थानं** वर्तनं तस्य हेतवः'' [वक्रोक्ति जीवित 1.24, वृत्ति]

अतः प्रारथानिक वर्गीकरण का अर्थ है, एक तत्त्व का प्राधान्य। भरत के नाट्यशास्त्र में रस को प्राणतत्त्व प्रकारान्तर से माना गया है पर उसे ही प्रधान मानकर उसका विवेचन नहीं किया गया है। भामह और दण्डी ने अलंकार तत्त्व की विवेचना में प्रतिभा को अधिक सक्रिय किया है। वामन ने सर्वप्रथम 'रीतिरात्मा' कहकर आत्मापद का प्रयोग किया। आत्मा पद का अर्थ प्रधान तत्त्व है। अतः इस आत्मतत्त्व को ही लेकर परवर्ती काल के आचार्यों ने अपनी चिन्तन पद्धति को आधार बनाया और आत्मा, जीवित, प्राण आदि पदों का व्यवहार होने लगा अतः आचार्यों के मुख्य विवेचन का प्रथम आधार यह हो गया कि 'काव्य की आत्मा अथवा जीवित या प्राणतत्त्व क्या है ? प्राणतत्त्व की प्रतिष्ठा हो जाने पर दूसरा विवेच्य यह रहा कि उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार से होती है। इस प्रकार प्रथम प्रश्न की गवेषणा में ही रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य—इन छ तत्त्वों को आत्मतत्त्व प्रमाणित करने वाले महनीय आचार्यों का चिन्तन क्षेत्र रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से रस तत्त्व प्रथम है तो औचित्य अन्तिम।

आज प्रस्थान पद की अपेक्षा सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त पद का अधिक व्यवहार होता है। अलंकार सम्प्रदाय अथवा रससिद्धान्त पदों से मात्र इतना ही अर्थ अभिप्रेत है कि अन्य तत्त्वों की अपेक्षा वह तत्त्व ही प्राणतत्त्व है। इस दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्र में कालक्रमानुसार निम्न छः सम्प्रदाय हैं।

1. रस सम्प्रदाय।
2. अलंकार सम्प्रदाय।
3. रीति सम्प्रदाय।
4. ध्वनि सम्प्रदाय।
5. वक्रोक्ति सम्प्रदाय।
6. औचित्य सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्य क्रमशः भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक और क्षेमेन्द्र माने जाते हैं और उनके निम्न प्रधान वाक्य हैं—

1. रसः काव्यार्थः = भरत।
2. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् = भामह।

3. रीतिरात्मा काव्यस्य = वामन।

4. काव्यस्यात्माध्वनिः = आनन्दवर्धन।

5. वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् = कुन्तक।

6. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् = क्षेमेन्द्र।

रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों का ऐतिहासिक विकास क्रम है परन्तु इनका भी सूक्ष्म आधार मानकर, वर्गीकरण करने का स्तुत्य प्रयत्न प्राचीन और अर्वाचीन चिन्तकों ने किया है। अतः छः सम्प्रदायों के वर्गीकरण को दो भागों में—प्राचीन और अर्वाचीन में विभक्त किया गया है। प्राचीन चिन्तकों में समुद्रबन्ध और आनन्दवर्धन हैं। आधुनिक चिन्तकों में संस्कृत और हिन्दी के क्षेत्र में काव्यशास्त्र पर कार्य करने वाले अनेक आचार्य हैं।

प्राचीन वर्गीकरण

'अलंकारसर्वस्व' के प्रख्यात टीकाकार समुद्रबन्ध ने सम्प्रदायों के विभाजन का स्पष्ट रूप से पहली बार वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

'इह विशिष्टौ शब्दार्थो काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः। आद्योऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीये भणितिवैचित्र्येण भोगीकृत्त्वेन चेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेषु आद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः। द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन। (समुद्रबन्धकृत टीका)

विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है। शब्द और अर्थ का यह वैशिष्ट्य धर्मद्वारा, व्यापार द्वारा तथा व्यंग्य द्वारा तीन प्रकार से होता है। इन तीनों में प्रथम तथा द्वितीय पक्ष के पुनः दो दो भेद होते हैं। अलंकार और गुण से शब्दार्थ के वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति तथा दूसरे के भणितिवैचित्र्य और भोगीकृत से। अलंकार पक्ष का उद्भटादिने, गुण पक्ष का वामन ने, वक्रोक्ति का कुन्तन ने भोजकत्वव्यापार का भट्टनायक ने और व्यंग्य (धनि) का आनन्दवर्धन ने प्रतिपादन किया है। इस प्रकार कुल पाँच पक्ष हुए। चित्र द्वारा इसे निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है—
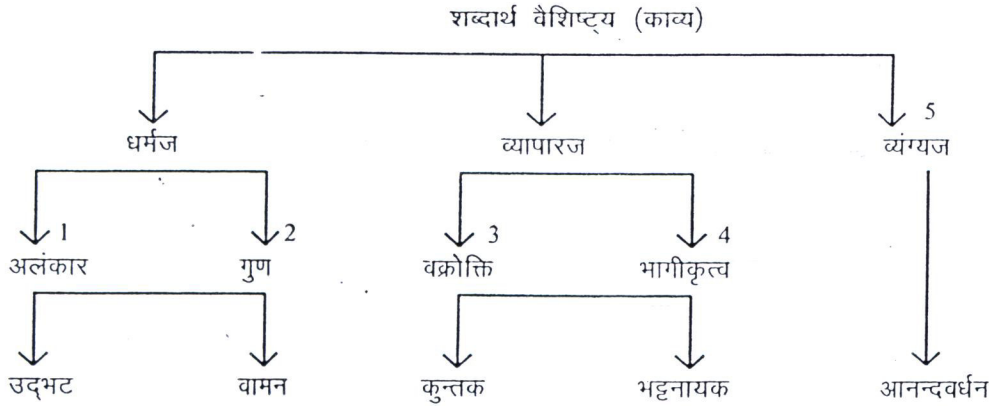
समुद्रबन्ध ने इस वर्गीकरण की तात्विक दृष्टि से विभाजित किया है क्योंकि पाँचों तत्त्वों के मूलतत्व भिन्न-भिन्न हैं।

1. अलंकार — अनित्यधर्म।
2. गुण — नित्यधर्म।
3. वक्रोक्ति — कविवर्णना।
4. भोगीकृत्व — रसिक चर्वणा।
5. व्यंग्य — कविरसिक पक्ष।

इसी के आधार पर क्रमशः अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिान्त, रसानुभूतिसिद्धान्त और ध्वनिसिद्धान्त से अभिहित किया जा सकता है परन्तु इस वर्गीकरण में कई विसंगतियाँ हैं। आनन्दवर्धन ने व्यंजना व्यापार की स्वीकृति और उसकी विवेचना की है, फिर उन्हें व्यापार पक्ष के अन्तर्गत क्यों नहीं रखा गया तथा रस और औचित्य को इस वर्गीकरण में स्थान

नहीं। अतः आधुनिक चिन्तकों ने भिन्न रीति से वर्गीकरण किया।

आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्पष्ट रूप से प्रारथानिक वर्गीकरण नहीं किया है तथापि उनके विवेचन से उनके अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है। आनन्दवर्धन ने स्वःध्वनि सिद्धान्त की उद्‌भावना को 'काव्यतत्त्व' की संज्ञा से अभिहित किया तथा पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन को 'काव्यलक्षण' या 'लक्ष्म' से कहा है। इससे प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्र के चिन्तन को वे दो भागों में विभाजित करते हैं और दोनों के लिये पुष्कल उद्धरण हैं—

काव्यलक्षण या काव्यलक्ष्म

1. वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कश्मिंचित् **काव्यलक्षण**विधायिभिः।
2. यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन **काव्यलक्षण**विधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा...। (ध्व. 1.1 वृत्ति)
3. बहुधाव्याकृतः सोऽन्यैः **काव्यलक्ष्मविधायिभिः**।। 1.3
4. **चिरन्तनकाव्यलक्ष्मविधायिनां** बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् (ध्व. वृ. 1.1)

उपर्युक्त प्रत्येक स्थान पर आनन्दवर्धन ने चिरन्तन चिन्तन को 'काव्यलक्षण या काव्यलक्ष्म' पद से कहा है।

काव्यतत्त्व

1. बुधैः **काव्यतत्त्वविद्‌भिः** (1.1. वृत्ति)
2. यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदय-हृदयाह्लादकारि **काव्यतत्त्वम्** 1.13 वृत्ति

[ध्व. अन्तिम पद्य]

4. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
   अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। 3.47

इस प्रकार लक्ष्म और तत्त्व की दृष्टि से यदि समग्र सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया जाय तो निम्न चित्र बनेगा—
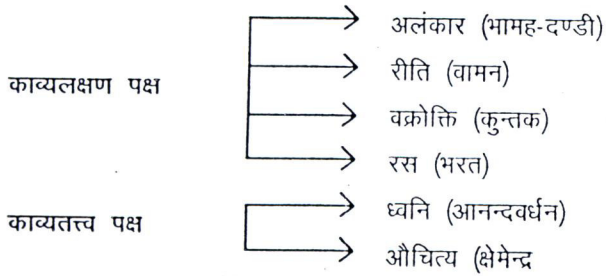
लक्षण और तत्त्व दोनों उस वस्तु के असाधारण धर्म होते हैं परन्तु लक्षण बाह्य होता है और तत्त्व आन्तरिक। राजशेखर के अनुसार श्रुति गाय का पावनत्व, सास्नादिमत्त्व और दुग्धत्व का कथन भिन्न-भिन्न आचार्य करते हैं जिन्हें क्रमशः ऋषि, शास्त्रकार और कवि (समीक्षक) कहते हैं— 'नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।

ऋषयःशास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति।। (काव्यमीमांसा)

आधुनिक चिन्तक

जिस प्रकार आनन्दवर्धन का चिन्तन दो भागों में विभक्त है उसी प्रकार आधुनिक चिन्तकों के द्वारा समग्र संस्कृत काव्यशास्त्र के सम्प्रदायों को अलंकार रीति और वक्रोक्ति को प्रथम पक्ष और रस, ध्वनि, औचित्य को द्वितीय पक्ष मानकर अलग-अलग नामों से अभिहित किया है। प्रथम पक्ष को बुद्धिवादी, वस्तुवादी, अलंकार सम्प्रदाय, वर्णनापक्ष, वहिर्मुखीतत्त्व आदि तथा द्वितीय पक्ष को आनन्दवादी, आत्मवादी, अलंकार्य सम्प्रदाय, चर्वणापक्ष, अन्तर्मुखी आदि नामों से प्रारथानिक वर्गीकरण किया है। कुछ मनीषियों ने प्रथम को कल्पना तत्त्व तथा द्वितीय को आस्वादपक्ष भी कहा है। वर्णनापक्ष का सम्बन्ध कविकर्म से है और चर्वणापक्ष का सम्बन्ध सहृदय से है। आनन्दवर्धन ने "सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्' कहा है।

चिरन्तन-चिन्तकों ने अपने चिन्तन का आधार लक्ष्म या लक्षण को ही माना, अतः आनन्दवर्धन ने उनके कथन को ही प्रामाणिक मानकर उन्हें 'काव्यलक्षणकारी, काव्यलक्षणविधायी अथवा काव्यलक्ष्मविधायी' कहते हैं। भामह-दण्डी आदि आचार्यों ने कहा है—

भामह– (काव्यालंकार)

1. यत्नोविदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः 1.6

2. 'अवलोक्य मतानि सत्कवीना मवगम्यस्वधिया च काव्यलक्ष्म'।। 6.64

दण्डी– (काव्यादर्श)

1. यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।

[काव्यादर्श 1.2]

इस प्रकार भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास लगभग दो हजार वर्षों तक फैला हुआ है। प्रत्येक आचार्य– कृति-सुमन लेकर सरस्वती के इस मन्दिर की अर्चना कर रहा है। प्रत्येक सुमन सौन्दर्य, सौरभ और सुन्दर आकृति से परिपूर्ण है। किसी आचार्य ने बाह्य सौन्दर्य का समुचित विश्लेषण किया तो किसी ने सौरभोन्मेष का प्रसार किया। कविता-कामिनी का सुसज्जित रूप एक ओर जहाँ आकर्षण का केन्द्र होता है वहीं उसका अव्याजमनोहरवपु और गुणगणसमन्वित स्वरूप भी सहृदय-हृदय आवर्जक होता है। अतः इसके अलंकार और रस मुख्य केन्द्र हैं।

(क) रस सिद्धान्त

संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वोत्कृष्ट रूप रसोपलब्धि है। काव्य का महनीय तत्त्व रस है। रस को आत्मा, अंगी, अलंकार्य, स्वरूपाधायक एवं प्रधान-प्रतिपाद्य मानकर उसका सर्वाङ्गीण विवेचन हुआ है। प्रायः सभी काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में रस का प्रतिपादन हुआ है। इसी से उसकी विशालता का बोध होता है। भरत से लेकर आज भी उसका ऊहापोह हो रहा है।

रस पद का अर्थ

रस पद का प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध होने से यह प्राचीनतम शब्द है परन्तु इसका अनेक अर्थों में प्रयोग होता रहा है। भरत के शिष्यों ने भी 'रस इति कः पदार्थः' (नाटयशास्त्र 6अ) से रस के अनेकार्थ की ओर संकेत किया था। अभिनव ने मधुर, पारद, सार, जल, आग्रह, देह धातु, काढ़ा आदि अर्थ स्वीकार किया और काव्य-नाट्यादि के पठन और दर्शन से उत्पन्न मानसिक आस्वाद को रस कहा है। काव्यानन्द ही रस है। इसी की प्रतीति कराने के लिए कवि, चर्वणा के लिये सहृदय-सामाजिक प्रवृत्त होते हैं।

रस आत्मा

रस का प्रारम्भिक विवेचन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है। भरत मुनि ने काव्य का प्रयोजन रस कहा है।

'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' तथा "रसः काव्यार्थः' अर्थात् रस की निष्पत्ति के लिये काव्य-नाट्य का निर्माण किया जाता है। इस आधार पर भरत को, काव्य की आत्मा रस को मानने वाला प्रथम आचार्य माना जाता है।

भरत ने कथावस्तु को तनु या शरीर निरूपित किया है–

'नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।। 14.2।।

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।। 19.1।।

इतिवृत्त को शरीर कहना शरीरी की अपेक्षा से ही हुआ है। शरीरी (आत्मा) रस ही है। अभिनव ने इनका अर्थ करते हुए कहा है कि 'रसाः पुनरात्मा'। नाट्यशास्त्र में इसी प्रकार अन्यत्र अप्रत्यक्ष कथनों से रस काव्य की आत्मा है–तथ्य सिद्ध होता है। भरत के पश्चात् आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा निरूपित किया है। रसमय काव्य ही जीवित काव्य कहा जाता है अतः रसादि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित मानना चाहिए–

'रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्त्वं व्यवस्थितम्।।

रस का इतिहास

भरतमुनि के पूर्व रस विषयक चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था और उसका व्यवस्थित रूप ही नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है क्योंकि भरत ने पूर्ववर्ती अनेक कारिकाओं को नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत किया है। पाणिनि ने शिलाली और कृशाश्व रचित

'नटसूत्रों' का उल्लेख किया है, जो अनुपलब्ध हैं। सम्भवतः नाट्यशास्त्र में उपलब्ध अनेक सूत्र 'नटसूत्र' ही हों।

चिरवन्दित ऋग्वेद में स्वादु, मधु, नवीन आदि विशेषण वाणी के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् (2.7) में रस को प्राप्त कर आनन्दमग्न होने का कथन है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

यह कथन ही रस-चिन्तन का प्रमुख सूत्र है। रस का 'ब्रह्मास्वादसहोदर' यह निरूपण उपनिषद् के कथन के आधार पर ही हुआ है।

आदिकवि ने रामायण में छः रसों का स्पष्ट उल्लेख किया है—

'रसैः श्रृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतद् गायताम्।। [बाल. का. 5.9]

रससिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रंथ भरत मुनि विरचित 'नाट्यशास्त्र' है। इसमें रस का मनोवैज्ञानिक आधार पर पूर्ण विवेचन है। भरत ने रस का सर्वाङ्गीण विवेचन किया है। रस का लक्षण, रस संख्या, विभावों, अनुभावों, व्यभिचारी भावों तथा सात्त्विकभावों का स्वरूप नाट्यशास्त्र में वर्णित है। भरत नाट्य के मुख्य चार तत्त्व—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस का क्रमशः ग्रहण, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद से मानते हैं (1.17) नाट्य का प्रत्येक तत्त्व रसानुगामी होने पर ही औचित्यमय होगा। अनेक रसों से युक्त नाट्य प्रेक्षकों को आकर्षित करता है (16.124)। भरत ने आठ स्थायीभावों—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय से क्रमशः आठ रस—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत निष्पन्न होते हैं—

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहोभयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।
श्रृंगारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साभुतसंज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।
[ना.शा. 6.27,15]

अभिनवगुप्त के समय तक शान्तरस की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी और उसे नवम् रस मान लिया गया था—"शान्तोऽपि नवमो रसः" नाट्यशास्त्र में सम्मिलित कर लिया गया।

भरत ने दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में रस का विवेचन किया था अतः श्रव्यकाव्य में प्रतिष्ठित होने के लिये रस को प्रतीक्षा करनी पड़ी। श्रव्यकाव्य का विवेचन भामह से आरम्भ होता है। भामह ने "रसैश्च सकलैः पृथक्" (काव्यालंकार 1.13) और 'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं' (5.3) तथा रसवत् अलंकारों का विवेचन किया। भामह ने रस को अपनी मनीषा का केन्द्रबिन्दु नहीं बनाया। दण्डी की दृष्टि भी अलंकारों के ही ऊहापोह में लिप्त रही। दण्डी ने केवल आठ रसों की संक्षिप्त चर्चा की है। रस की स्थिति वाणी में है और उसका रसमय कथन आवश्यक है, जिससे सहृदय का चित्त चमत्कृत होता है। वामन ने केवल 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' सूत्र के अन्तर्गत रस का उल्लेख किया। उद्भट ने रसवदादि अलंकारों के प्रसंग में रस का वर्णन किया, उनकी विशेष दृष्टि 'नवनाट्ये रसाः स्मृताः' से परिज्ञात होती है, शान्त को नाट्य में रस मानकर रसों की संख्या नौ मानी।

उपर्युक्त आचार्यों के रस-चिन्तन में विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं है। रुद्रट के अनन्तर भरत के रस निष्पत्ति विषयक सूत्र को लेकर अनेक आचार्यों ने रस-चिन्तन को अग्रसरित किया। रसवादी धारा के प्रथम चिन्तक लोल्लट हैं। उनके अनुसार 'रसवत् एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य' अर्थात् काव्य में सरस अर्थ का निबन्धन आवश्यक है और उन्होंने रसानुभूति विषयक 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना की। लोल्लट के चिन्तन से अपनी असहमति प्रकट करते हुए शंकुक ने 'अनुमितिवाद' के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। अनुमानगम्य रस है। इसके अनन्तर रस-चिन्तन का स्वर्णिम युग प्रारम्भ होता है। भट्टनायक, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन प्रभृति प्रखर प्रतिभा सम्पन्न मनीषियों ने रस को सर्वोपरि तत्त्व और 'ब्रह्मास्वादसविध' तत्त्व निरूपित किया।

भट्टनायक की चिन्तना आनन्दवादी है। काव्य की आत्मा रस है और उसी को केन्द्र मानकर उसका उपनिबन्धन अपेक्षित है। उन्होंने 'भुक्तिवाद' के सिद्धान्त का प्रर्वतन किया और रसानुभूति विषयक 'साधारणीकरण' की स्थापना की। जिसकी मान्यता आज भी है।

रस-सम्प्रदाय के प्रखर-चिन्तक आचार्य प्रवर अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने रसानुभूति विषयक अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की।

अभिनवगुप्त के चिन्तन का परवर्ती काव्यशास्त्रकारों पर पूर्ण प्रभाव है। वे रस के परम प्रामाणिक आचार्य हैं। 'रस एव वस्तुत आत्मा' का समुद्घोष अभिनव ने किया। रस के तत्त्वों का सुदृढ़ दार्शनिक भूमिका पर विवेचन किया।

भोजराज ने 'रसोक्ति को वाङ्मय का एक भेद स्वीकार किया। मम्मट ने एक ओर 'नवरसरुचिरां' का प्रतिपादन किया। दूसरी ओर उसे काव्य का अंगीतत्त्व निरूपित किया 'ये रसस्याङ्गिनोधर्मा [का.प्र. 8.66]। रस काव्य के प्रयोजनों में 'मौलिभूत' है। हेमचन्द्र ने मम्मट की ही सरणि पर रस का विवेचन किया। विश्वनाथ,जगन्नाथ आदि आचार्यो का रस-चिन्तन उपादेय है। विश्वनाथ ने 'वाक्यंरसात्मकं काव्यम्' का प्रतिपादन किया और काव्य की आत्मा रस निरूपित किया पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रखर चिन्तक हैं। उन्होंने रसध्वनि को सबसे अधिक रमणीय निरूपित किया तथा रसध्वनि को ही काव्य आत्मा माना है।

भरत के चिन्तन के पश्चात् रस के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण तथ्य उद्भासित हुए। **प्रथमतथ्य** यह कि रस की सत्ता का केन्द्र कौन है ? रसानुभूति का अधिकारी कौन है ? इस चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में चार सिद्धान्त—उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, मुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद प्रतिफलित हुए। इसी के साथ उसकी आनन्दमयता का भी निरूपण हुआ। कवि, अभिनेता (नट) और मूलपात्रों में रस-स्थिति का निराकरण होकर सर्वमान्य तथ्य 'सहृदय (रसिक)' ही रसभोक्ता है—स्थापित हुआ। **दूसरा तथ्य** शान्तरस की स्थापना हुई और इसी से सम्बन्धित सर्वश्रेष्ठ रस निरूपित हुआ। अभिनवगुप्त 'शान्तरस' को ही रसराज मानते हैं। भवभूति करुण रस को, भोजराज श्रृंगार को तथा कतिपय चिन्तक वीर अथवा अद्भुत को रस श्रेष्ठ मानते हैं। चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन का प्रभाव काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर भी पड़ा और रूप गोस्वामी ने 'भक्ति' को ही सर्वश्रेष्ठ रस निरूपित किया। इस प्रकार भरत से जगन्नाथ पर्यन्त लगभग दो हजार वर्षो तक रस का चिन्तन होता रहा और उसे सर्वश्रेष्ठ तत्त्व का स्थान प्राप्त हुआ। रस रूपी प्राणतत्त्व के रहने पर ही अन्य सभी तत्त्वों की सार्थकता है।

भरत ने रस को आस्वाद्य कहा जो विषयपरक अर्थ था—

रस इति कः पदार्थ। उच्चयते। आस्वाद्यत्वात्' (ना.शा 6अ)

अर्थात् रस अनुभूति का विषय है, इसे ही विषयगत चिन्तन कहते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में नानाविध व्यंजनों के उपभोग से जैसे व्यक्ति आनन्दित होता है- कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। रस विभावादि के संयोग से होता है और स्थायी भाव की ही चर्वणा होती है। अभिनवगुप्त ने रस को विषयगत से निकालकर विषयी अर्थात् अनुभूतिपरक चिन्तन किया। अभिनवगुप्त के कथन की प्रामाणिकता निःसंदिग्ध रही। यह अनुभूति आनन्दमयी ही होती है। करुण रस का आस्वाद करते समय जो सामाजिक के अश्रुपातादि होते हैं, वे आनन्दपरक ही होते हैं। रस का स्वरूप 'आनन्दमय' है। विश्वनाथ ने समग्र चिन्तन का संग्रह कर कहा है—

'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। [साहित्यदर्पण 3.2-3]

(ख) ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन हैं। ध्वन्यालोक में सर्वप्रथम ध्वनि का भेदोपभेद सहित पूर्ण विवेचन उपस्थापित किया गया है। यद्यपि आनन्दवर्धन ने इस तथ्य का निरूपण किया है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है', ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का अभिमत है' परन्तु आनन्दवर्धन के पूर्व किसी भी लिखित ग्रन्थ में ध्वनि या ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर निरूपण नहीं किया गया है। आनन्दवर्धन का उपर्युक्त कथन मात्र उनकी महानता का परिचायक है।

आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनि तत्त्व

आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनि का संकेत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में माना गया है। 'सबसे मुख्य विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वे सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं— 'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति'' (ध्व. 1.13 वृत्ति)

आनन्दवर्धन स्वयं को वैयाकरणों का अनुयायी मानकर चलते हैं। वैयाकरणों ने अर्थबोध के लिये स्फोटसिद्धान्त की कल्पना की और 'स्फोट' शब्द का अर्थ है 'स्फुटित अर्थः यस्मात् स स्फोटः अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है, अर्थ की प्रतीति होती है उसको 'स्फोट' कहते हैं। ध्वनि के द्वारा भी अर्थ की प्रतीति होती है। इसी साम्यता के आधार पर मम्मट

ने "बुधैः वैयाकरणैः" कहकर वैयाकरणों के प्रति सम्मान व्यक्त किया है। ध्वनि अनुरणन रूप है और यह अनुरणन स्फोट के ही तुल्य है।

ध्वनि का प्राणतत्त्व व्यंजनाशक्ति है। व्यंजनाशक्ति की उद्भावना और स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। आनन्दवर्धन के पूर्व भामह और दण्डी ने अभिधा तथा गुणवृत्ति का विकथन किया। उद्भट ने 'अवगमन' का संकेत मात्र किया।

'वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना'

आनन्दवर्धन तथा अन्य आचार्य भी व्यञ्जना के ऊपर पर्यायों में 'अवगमन' व्यापार का उल्लेख करते हैं। वामन ने सादृश्य लक्षणा का ही कथन किया। रुद्रट ने 'अर्थान्तरमवगमयति' के द्वारा सम्भवतः 'अवगमन' वृत्ति का संकेत किया हो परन्तु आनन्दवर्धन के पूर्व व्यञ्जनावृत्ति 'अभग्ननारिकेलवत्' ही थी। आनन्दवर्धन ने ही उसका सम्यक् प्रतिपादन किया। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना और पूर्ववर्ती समस्त तत्त्वों का यथास्थान प्रदान करना ही आनन्दवर्धन का अन्यतम प्रयोजन था।

काव्य की आत्मा-ध्वनि

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना— 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः 1.1

काव्यमर्मज्ञों ने काव्य की आत्मा को ध्वनि कहा है। काव्य का मुख्यतत्त्व ध्वनि है और यह परम्परानुमोदित है। यद्यपि किसी विशिष्ट पुस्तक में ध्वनितत्त्व का विवेचन उपलब्ध नहीं है तथापि विद्वत् गोष्ठिओं में ध्वनि तत्त्व की चर्चा होती थी उसका निरूपण पहली बार ध्वन्यालोक में हुआ।

ध्वनि का लक्षण

आनन्दवर्धन ने ध्वनि पद का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। शब्द, अर्थ, व्यंग्य व्यक्ति और काव्य—इन पाँचों अर्थों को लेकर ध्वनि का प्रयोग किया है।

1. ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः—जो ध्वनित करे वह **व्यञ्जक शब्द** ध्वनि है
2. ध्वनति यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित हो वह **व्यञ्जक अर्थ** ध्वनि है।
3. ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह **व्यंग्य ध्वनि** (व्यंग्यार्थ वस्तु, अलंकार, ध्वनि) है।
4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा (व्यापार—**व्यञ्जनावृत्ति**—व्यक्ति) ध्वनि हो वह **व्यक्ति ध्वनि** है।
5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हों, उस **काव्य** को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि के पाँचों अर्थों का--व्यञ्जकशब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जना और व्यंग्यकाव्य, निरूपण किया है। उनके अनुसार

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।"—(ध्वन्यालोक, 1.13)

जहाँ अर्थ स्वयं को, शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण बनाकर उस अर्थ को 'प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।' उपर्युक्त कारिका में, अर्थ, शब्द तमर्थ (व्यंग्य), व्यङ्क्त (व्यञ्जना) और काव्यविशेष ध्वनि है।

1 2 3 4 5

"काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्य-वाचक सम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्यात् ध्वनिः" में पाँचों ध्वनि के अर्थ प्रतिपादित हैं। अभिनवगुप्त ने पाँचों अर्थ सूत्र में कहा है— "शब्देऽर्थे व्यापारे व्यंग्ये समुदाये च"।

यह ध्वनि तत्त्व प्रतिभाजन्य है। इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति भी प्रतिभा सम्पन्न सहृदय को ही होती है। प्रतीयमान अर्थ के महत्त्व का प्रतिपादन आनन्दवर्धन करते हुए कहते हैं कि यह 1. सम्पूर्ण महाकवियों के काव्यों का सारतत्त्व, 2. अत्यधिक रमणीय, 3. और चिरन्तन काव्य लक्षण का प्रतिपादन करने वालों की सूक्ष्ममति से उन्मीलित नहीं हुआ था—

1. 'सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्,
2. अतिरमणीयम्
3. अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षण विधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्" (ध्व. 1.1 वृत्ति)

यह प्रतीयमान 'सहृदयलोचनामृत' तत्त्व है और आदिकवि तथा अन्य महाकवियों के काव्य में परिव्याप्त है। व्यंग्य का प्राधान्य होने पर ही उसकी काव्यात्मकता है

'मुख्यंतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा' 1.2 वृत्ति।

इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने का सामर्थ्य प्रत्येक शब्द में नहीं होता अपितु कतिपय विशेष पद ही होते हैं (1.8) रमणियों के लावण्य सदृश इस प्रतीयमान की भिन्नता अन्य अनेक तत्त्वों से है। यह प्रतीयमान अर्थ वक्ता, श्रोता, प्रकरण, देश, कालादि के भेद से बहुविध होता है। जैसे—''गतोऽस्तमर्कः'' का वाच्यार्थ तो एक ही है परन्तु व्यंग्यार्थ बहु प्रकार का होता है। उसकी प्रतीति शब्दार्थ के अनुशासन मात्र से नहीं होती अपितु काव्यतत्त्वज्ञ को होती है।

ध्वनि के भेद

ध्वनि के अनेक भेदों का सोदाहरण निरूपण हुआ है, परन्तु प्रतीयमान अर्थ मुख्य रूप से तीन ही प्रकार का होता है वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि।

1. वस्तुध्वनि का अर्थ है—जहाँ सामान्य कथनमात्र से अलंकारादि के अभाव में, व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। यह व्यंग्यार्थ वास्तविक काव्य के सन्दर्भ में सामान्य कथन से है। लोक-जीवन में उस प्रकार की सत्ता सम्भाव है। जैसे—विघ्नकारी धार्मिक को भगाने के उद्देश्य से पुंश्चली नायिका कहती है—

भ्रमधार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्यमारितस्तेन।
गोदावरीनदीकुंजवासिना तृप्तसिंहेन।।

हे धार्मिक। गोदावरी नदी के कुंज में रहने वाले दृप्त सिंह ने उस कुत्ते को आज मार डाला है। अब आप निश्चित भ्रमण करें''

यहाँ अर्थ तो विधिपरक है 'भ्रमधार्मिक' परन्तु इसकी ध्वनि 'मा भ्रम' है।

2. अलंकारध्वनि की अभिव्यक्ति अलंकारों के माध्यम से होती है और यह काल्पनिक होती है। जैसे—

''निरूपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघाय शूलिने।।

सामग्री तथा आधारभित्ति के अभाव में भी नानाकार संसार रूपी चित्र का निर्माण करने वाले, कला में प्रशंसनीय प्रसिद्ध शिव को नमस्कार है। चित्र का निर्माण तूलिका आदि तथा आधार पटादि के अभाव में असंभव है परन्तु दोनों के अभाव में शिव जगच्चित्र का निर्माण करते हैं। इसमें व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है। इसके माध्यम से कवि के कथन का यह तात्पर्य है कि शिव बाह्यकरण सामग्री की अपेक्षा नहीं रखते, वे सर्व समर्थ स्वयभू हैं। शिव का आधिक्य वर्णित है।

3. रसध्वनि की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की योजना से होती है। स्थायीभाव ही रस है अर्थात्, विभावादि के संयोग से सहृदय सामाजिक अपनी ही चित्तवृत्ति की चर्वणा करता है। रसध्वनि को आनन्दवर्धन ने सर्वाधिक महत्त्व दिया और अभिनवगुप्त तो काव्यात्मा रसध्वनि को ही मानते हैं—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा' 1.5 में 'वस्तुतः रस एवात्मा' उनका निरूपण है।

रसध्वनि का महत्त्व अत्यधिक है। उसकी सत्ता होने पर अन्य तत्त्वों की सत्ता है। उसके न होने पर अन्य तत्त्व व्यर्थ हैं। जैसे सर्वाङ्गसुन्दरी और विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित मृत नायिका का क्या प्रयोजन—

रसध्वनिर्न यत्रास्ति तत्र बन्ध्यं विभूषणम्।
मृतायाः मृगशावक्ष्याः किं फलं हारसम्पदा।।

वृत्ति को आधार तत्त्व मानकर आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य के मुख्य दो भेदों का प्रतिपादन किया है— 1. लक्षणामूलाध्वनि और 2. अभिधामूलाध्वनि।

लक्षणा के आश्रित लक्षणामूलाध्वनि है। इसमें मुख्यार्थ की विवक्षा नहीं होती, उस बाधितार्थ द्वारा प्रतीयमानार्थ की प्रतीति होती है।

अभिधामूलाध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा होती है परन्तु वह व्यंग्यार्थनिष्ठ होता है। अभिधाव्यापार पर आश्रित प्रतीयमानार्थ होता है। वाच्यार्थ के अस्तित्त्व के कारण नहीं अपितु उसका महत्त्व व्यंग्यनिष्ठता के कारण है। अभिमूलाध्वनि के मुख्य दो भेद—असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ही अलौकिक ध्वनि या रसध्वनि के नाम से अभिहित है। आगे चलकर ध्वनि भेदोपभेदों की गणना दस हजार से भी आगे हो गई परन्तु रसध्वनि का महत्त्व सर्वाधिक रहा।

रसध्वनि के अन्तर्गत मात्र शृंगारादि को नहीं गिना गया अपितु उसके अन्तर्गत रस (शृंगारादि), भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशबलता—इन आठों को माना गया है। आनन्दवर्धन के अनुसार शृंगारध्वनि की गणना अनन्त हो सकती है। अलंकारादि की रचना 'रसाक्षिप्त' होकर ही होनी चाहिए।

ध्वनिसिद्धान्त विरोध आनन्दवर्धन के समय और उनके पश्चात् भट्टनायक, महिमभट्ट आदि आचार्यों ने किया परन्तु वाग्देवतावतार मम्मट ने उसकी सतर्क ऐसी स्थापना की कि फिर उसका खण्डन असम्भव हो गया।

आनन्दवर्धन की अनुभवपरक समीक्षा काव्यशास्त्र की महती उपलब्धि है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वनिकाव्य की आत्मा है।' इसका विस्तृत पट-भूमि में चित्रण किया और अपनी सूक्ष्म तथा तलस्पर्शिनी प्रतिभा से ध्वनि को आलोकित किया।

(ग) औचित्य सिद्धान्त

औचित्य को काव्य का सर्वस्व निरूपित करने का श्रेय क्षेमेन्द्र को है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का प्राण कहा—

'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।' (औचित्यविचारचर्चा. 5)

क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य के अभाव में न तो रस रस बन पायेगा और न गुण गुण तथा अलंकार भी न अलंकार होगा। औचित्य ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके रहने से प्रत्येक तत्त्व उद्‌भासित और सत्तात्मक होते हैं।

'औचित्यं—स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य तेन विनास्य गुणालङ्कारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्।'' (औ.वि.च. 5 वृत्ति)

औचित्य लक्षण

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाता है और उचित के भाव को विद्वानों ने औचित्य कहा है—

''उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। 7।।

अलंकार, गुण, रस, रीति आदि तत्त्वों का चिन्तन औचित्य सापेक्ष होता है। अन्यथा उसके अभाव में समग्र चिन्तन व्यर्थ होता है। वीर की तुलना चाण्डाल से या रवि की तुलना स्फुलिङ्ग से उचित नहीं है। औचित्य का अतिक्रमण दोषावह होता है। अतः उचित शब्द से औचित्य पद निष्पन्न है। वस्तुतः इसका चाहे काव्यजीवन हो या लोकजीवन, महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुई का औचित्य अपने स्थान पर और तलवार का औचित्य अपने स्थान पर। अतः प्रत्येक वस्तु अपनी जगह पर ही चारुत्ववर्धक होती है। अपनी सीमा के भीतर ही उसकी शोभा है। अपनी सीमा का अतिक्रमण प्रत्येक के लिए अनुचित है। औचित्य का अर्थ है जहाँ जैसा होना चाहिये वहाँ वैसा ही होना। इसके विपरीत अनौचित्य होगा। जो वस्तु जैसी देशकाल व्यक्ति के अनुरूप है उसका वैसा वर्णन होना चाहिए। औचित्य की परिधि में समस्त तत्त्व अन्तर्भूत हैं।

औचित्य का क्रमिक विकास

काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में औचित्य के अनेक संकेत मिलते हैं। औचित्य सिद्धान्त की उद्‌भावना एक आकस्मिक घटना न होकर एक सतत् विचार परम्परा की परिणति है। भरत ने लोक को प्रमाण मानकर नाट्य में 'लोकसिद्ध' प्रयोग पर बल दिया है। चतुर्विध अभिनय प्रकृति के अनुकूल होना चाहिये। अनुकूल रस, भाव का उन्मीलन तभी हो सकता है जब अवस्थानुरूप अभिनय होगा, क्योंकि देश के प्रतिकूल वेष, वेषानुरूप क्रिया और क्रिया पाठ्यानुरूप तथा पाठ्य के अनुरूप वेष अभिनेय होगा क्योंकि देश के प्रतिकूल वेष शोभाधायक नहीं हो सकते। कर में नूपुर और गले में मेखला हास्य उत्पन्न करेंगे, सौन्दर्य नहीं—

'अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।। 21.71

भरत सर्वत्र औचित्यानुकूल वर्णन, अभिनय आदि की व्यवस्था मानते हैं। समस्त नाटकीय तत्त्व औचित्य पर निर्भर हैं।

भरत के पश्चात् भामह और दण्डी का औचित्य चिन्तन अल्प है। भामह ने आश्रय-सौंदर्य की मीमांसा की है। औचित्ययुक्त तत्त्व उत्कर्षकारी है। दण्डी के अनुसार 'गुणवीथी' में प्रवेश के लिए औचित्यदृष्टि अपेक्षित है। रुद्रट ने समयगौचित्यं का अनेकत्र उल्लेख किया है। महाकवि, कब किसका ग्रहण और त्याग अपेक्षित है, भलीभाँति जानता है और उसी के अनुसार उसका निरूपण करता है। अनुचितभाव का वह परित्याग करता है। उनके अनुसार देश, कुल, जाति, विद्या, वित्त, वय, स्थान, पात्र आदि का निरूपण में औचित्यपरक दृष्टि रखनी चाहिये, इनका अनौचित्यपूर्ण प्रतिपादन ही ग्राम्यत्त्व दोष है।

आनन्दवर्धन ने औचित्य को काव्य का परम रहस्य माना है—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

आनन्दवर्धन ने औचित्य का व्यापक भूमि पर विवेचन किया और प्रतिष्ठित किया। औचित्य अनिवार्य तत्त्व है। अनौचित्य रसभंग का कारण है। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में रस व्यञ्जित-ध्वनित होता है और उस अभिव्यक्ति के मूल में औचित्य ही है। व्यञ्जक का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिये। रस का प्रमुख बाधक तत्त्व अनौचित्य है। औचित्य का उपादान और अनौचित्य का परित्याग ही श्रेष्ठ कवि का आधार है। औचित्य योजना ही महाकवि का मुख्य कर्म है—

'औचित्येन योजनमेव महाकवेः मुख्यं कर्म।। (ध्वन्या. 3.32)

आनन्दवर्धन ने रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, रीत्यौचित्य और प्रबन्धौचित्य—छः प्रकार के औचित्यों का प्रतिपादन किया है। औचित्य के आधार पर ही रस, भाव, अलंकार, गुणादि तत्त्वों की रक्षा है। औचित्य चारु काव्य चिरस्थायी और सहृदय हृदयावर्जक होता है।

कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में 'औचित्य विरह' को आनन्दमयता का बाधकतत्त्व निरूपित किया। औचित्य के लिए उन्होंने "आख्यानजीवितम्" कहा। औचित्य के अनुरूप निबन्धन अपेक्षित है। औचित्य को काव्य का एक गुण माना और 'औचित्यमुचितभावः'' कहा, जिसे क्षेमेन्द्र अपनाते हैं। उनके अनुसार रमणीयत्व का सम्बन्ध औचित्य से है—

''प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन चारवो रमणीयाः।

महिमभट्ट ने बहिरंग और अन्तरंग नाम से दो प्रकार के अनौचित्यों का निर्देश किया और रसविषय अनौचित्य को 'अन्तरंग कहा। तथा शब्दार्थ से सम्बन्धित अनौचित्य को बहिरंग।

क्षेमेन्द्र के पूर्व औचित्य के महत्त्व का प्रतिपादन प्रायः सभी आचार्यों ने किया परन्तु उसे काव्य का जीवित क्षेमेन्द्र ने ही माना। रस काव्य की आत्मा है तथा औचित्य जीवित अर्थात् रस भी औचित्यानुरूप होने पर ही आत्मपद प्रतिष्ठित हो सकता है। शृंगारादि रसों में कठोरवर्ण या ओजस्वी पदावली के प्रयोग से 'रसच्युत' होगा, रसाभिव्यक्ति नहीं। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व निरूपित किया।

औचित्य के भेद

औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसकी विशाल परिधि है। भाषा के स्थूलतम धरातल से उसका प्रारम्भ होता है और सूक्ष्मतम विभावादि तक परिव्याप्त है। आह्लाद औचित्यजन्य है। अतः गुण-दोष आदि की व्यवस्था भी औचित्य पर निर्भर है।

क्षेमेन्द्र ने, पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीः—ये सत्ताइस औचित्य के मुख्य भेद स्वीकार किए हैं। क्षेमेन्द्र ने इसी आधार पर अनन्त औचित्य का संकेत किया है। इन का भी सूक्ष्मचिन्तन के आधार पर—मीमांसा, काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, काव्याङ्ग तथा लोकतंत्र पर आधारित मानकर पाँच मुख्य ही आधार हो सकते हैं।

पदौचित्य—विरहिणी का वर्णन करते समय 'तन्वी' पद का प्रयोग 'तन्वीश्यामा'' प्रबन्धौचित्य—अर्थ विशेष के कारण सम्पूर्ण प्रबन्ध अत्यन्त हृदयग्राही हो जाता है— यथा—

''जातं वंशेभुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्....।

क्षेमेन्द्र ने प्रत्येक औचित्य तथा अनौचित्य का सोदाहरण विवेचन किया है। उन्होंने औचित्य को सर्वव्याप्त तत्त्व माना है।

महत्त्व

औचित्य काव्य परम तत्त्व है। उचित स्थान—विन्यास से चारुत्व की उत्पत्ति होती है। क्षेमेन्द्र के पूर्व औचित्य तत्त्व सतत् प्रवहमान नितान्त सूक्ष्म तत्त्व था। क्षेमेन्द्र ने उसका विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन किया। औचित्य काव्य का अविनाशी और स्थिर तत्त्व है—

'अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

लोक जीवन में भी मेखला, हार, नुपूर, केयूरपाशादि अलंकार यथा अवयव पहने जाने पर ही रमणीयता उत्पन्न करते हैं–

'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता.
मौचित्येन विना रुचि प्रतनुते नालंकृतिनो गुणाः।।

क्षेमेन्द्र की दृष्टि अत्यधिक सूक्ष्म और तत्त्वदर्शिनी है। कोई भी वस्तु अपने आप चारुत्व उत्पन्न करने में समर्थ नही है, अनुरूप संयोजन से ही चारुत्व उत्पन्न होता है। औचित्य काव्य का एक स्वतंत्र, अन्तरंग, स्थिर, अविनाशी, महत्त्वपूर्ण और प्राणतत्त्व है।

प्रारथानिक वर्गीकरण (2)

(क) अलंकार सिद्धान्त, (ख) रीति सिद्धान्त, (ग) वक्रोक्ति सिद्धान्त।

(क) अलंकार सिद्धान्त

अलंकार पद का अर्थ–

अलंकार पद का अर्थ साधन और साध्य–दोनों रूपों में मान्य रहा है। 'अलंकारोति इति अलंकारः अथवा अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः'' अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार शरीर के सौन्दर्यवर्धक तत्त्वों को अलंकार (आभूषण) कहते हैं। जिस प्रकार कामिनी का सौन्दर्य कटक-कुण्डल से विभूषित होता है उसी प्रकार अनुप्रास, उपमादि अलंकारों से काव्य-सौन्दर्य बढ़ता है। अतः इस व्युत्पत्ति में अलंकार साधन हैं। ये काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं।

जब अलंकार को साधन न मानकर साध्य माना गया, तब उसका भावपरक अर्थ 'अलंकृति अलंकारः'' किया गया। यहाँ अलंकार पद काव्य का साध्य और सौन्दर्य का पर्यायवाची है। वामन ने दोनों अर्थों का कथन किया है। यथा

कोऽसावलङ्कारः इत्याह सौन्दर्यमलंकारः (का.सू. 1.1.2)

अलंकृतिरङ्कारः। करणव्युस्पत्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते'

(1.1.2 वृत्ति.)

प्रारम्भिक आचार्यों ने अलं तत्त्व को ही अलंकार मानकर साध्यपरक अर्थ किया है। वेदों में इस पद के स्थान पर 'अरं कृतिः' (ऋ. 7.29.3) पद का प्रयोग है। 'अरम्' ही 'अलम् हुआ है। ऋ का अर्थ गति है अर्थात् काव्य को अलंकृति तत्त्व से युक्त होना चाहिये।

अलंकार पद के अर्थ का संकोच ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना से प्रारम्भ हुआ और आनन्दवर्धन ने उसे मात्र साधन मानकर उसका विवेचन किया, परन्तु भामह, दण्डी, वामनादि आचार्य उसे साध्य मानते हैं। साध्यपद पर प्रतिष्ठित अलंकारपद आनन्दवर्धन के अनन्तर साधन मात्र रह गया। काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाला प्रत्येक तत्त्व अलंकार था। इसीलिये प्रारम्भिक आचार्यों ने कहा कि अलंकार काव्य का शोभाधायक तत्त्व है

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्

(काव्या. 1.14)

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।।

(काव्यादर्श 2.1)

सौन्दर्यमलंकारः (का.सू. वृत्ति 1.1.2)

दण्डी ने सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, लक्षणादि को इसी अर्थ में अलंकार कहा है (द्र. काव्यादर्श 2.367)

अलंकार का लक्षण

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अतिरिक्त अनेक आचार्यों ने अलंकार का लक्षण किया है। भरत और भामह ने अलंकारों का विवेचन किया है परन्तु उसका विशेष लक्षण नहीं। सर्वप्रथम दण्डी ने काव्य शोभाकर धर्मों को अलंकार कहा है। 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (काव्यादर्श. 2.1)

दण्डी के अनन्तर उद्भट ने अलंकारों का गम्भीर विवेचन किया परन्तु विशेष लक्षण नहीं किया। इसके पश्चात् अलंकारयोग से ही काव्य की ग्राह्यता (काव्यं ग्राह्यमलंकारात्) का प्रतिपादन करने वाले वामन ने सौन्दर्य को ही अलंकार माना और उसका प्रतिपादन किया। यथा–

''सौन्दर्यमलंकारः (का. सू. 1.1.2)
काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः। (का.सू. 3.1.1)
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः (3.1.2)

अतः वामन की सौन्दर्यपरक दृष्टि है। प्रत्येक सौन्दर्यकारी तत्त्व अलंकार है तथा उपमादि साधनभूत हैं।

आनन्दवर्धन ने अलंकारों को अंगाश्रित माना और अपृथक् यत्ननिर्वर्त्य ही चारुत्ववर्धक होंगे। वाच्य-वाचक का आश्रय लेकर अलंकार प्रवर्तित होते हैं– 'अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्। (ध्वन्यालोक 2.6)

अलंकारों का काव्य में आभूषण की तरह अस्तित्व है। शब्दनिष्ठ शब्दालंकार और अर्थनिष्ठ अर्थालंकार होते हैं।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में अलंकारों को 'आनन्दवर्धन की सरणिपद उपकारक, अंगभूत, वाच्य-वाचकाश्रित माना है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। (का.प्र. 8.2)

मम्मट ने वैचित्यकारी तत्त्व को अलंकार-निरूपित किया है। विश्वनाथ ने शरीर (शब्दार्थौ शरीरं) की शोभा बढ़ाने वाले और रसोपकारकों को अलंकार कहा है। ये उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं–

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।। (सा. दर्पण 10.1)

अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व है–इस मान्यता का पुनरुद्‌घोष जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में किया और कहा कि यदि अग्नि उष्णत्व से रहित हो सकती है तो काव्य भी अलंकार विहीन हो सकता है। 'अङ्गकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।।

असौनमन्यते कस्मादनुष्णामल्लङ्कृती ।। (चन्द्रालोक 1.8)

जगन्नाथ ने 'रमणीय-प्रयोजकतत्त्व' को अलंकार कहा है।

इस प्रकार अलंकार का लक्षण काव्य की समस्त सौन्दर्योत्पादक विशेषताओं और केवल साधनपरक 'उपमादि' को मानकर किया गया है। प्रथम अर्थ के ही कारण भामह ने 'काव्यालंकार', उद्भट ने 'अलंकारसारसंग्रह' रुद्रट ने 'काव्यालंकार' तथा वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' अपने ग्रन्थों का नाम रखा। बाद के आचार्यों ने उसे साध्य न मानकर साधन माना।

अलंकारों का विकास

अलंकारों का क्रमिक, विकास होता रहा। नये अलंकारों की उद्‌भावना और प्राचीन आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत अलंकारों में कतिपय की अस्वीकृति दिखाई देती है। आनन्दवर्धन 'वाग्विकल्पानानान्त्यात्' (ध्व. 1.1 वृत्ति) और 'अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः' (ध्व. 3.37 वृत्ति) के द्वारा कथन प्रकार को अनन्त मानकर अलंकारों को भी अनन्त माना है। इसी प्रकार रुय्यक ने भी 'अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः' मानकर अलंकारों की अनन्तता मानी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिपादित किया कि एक ही कथन को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतः कथन प्रकार से उसके अनन्त प्रकार हो जाते हैं–

'वाग्भङ्गीनां तु पर्यालोचने एकस्मिन्नेव विषयेऽनन्तप्रकारः संपद्यते, किमुत विषयभेदे। यथा–'इह भवदिमरागन्तव्यम्' इति विषये' 'अयं देशोऽलंकर्तव्यः' इति 'पवित्रीकर्तव्यः' इति, 'राफलजन्मा कर्तव्यः' इति, 'प्रकाशनीय', इति, 'मनोरथः पूरणीयः' इत्यादिः' (रसगंगाधर, द्वितीयानन, –पर्यायोक्तालंकार प्रकरण)

यही कारण है कि भरत से लेकर अप्पयदीक्षित तक अलंकारों की संख्या संवर्धित होती रही। भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक और यमक अर्थात् तीन अर्थालंकारों तथा एक शब्दालंकार का मात्र विवेचन किया है। भरत को चार ही अलंकार नाट्य के सन्दर्भ में मान्य हैं। भामह से अलंकार चिन्तन काव्य के सन्दर्भ में प्रारंभ हुआ। भामह ने अनेक अलंकारों का उद्‌भावना की और 38 अलंकारों का सोदाहरण विवेचन किया। दण्डी कतिपय अलंकारों को नहीं मानते और 37 अलंकारों का विवेचन करते है। उद्‌भट ने 41, भोजराज ने 72; मम्मट ने 67, रुय्यक ने 75, जयदेव ने 90, जगन्नाथ ने 70 (ग्रंथ अधूरा और अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में 125 अलंकारों का प्रतिपादन किया है। यदि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के आचार्यों द्वारा स्वीकृत-अस्वीकृत अलंकारों को गिन लिया जाये तो अलंकारों की संख्या दो सौ से भी ऊपर चली जाती है। आनन्दवर्धन ने अलंकारों को वाग्विकल्प उपेक्षा की दृष्टि से कहा था परन्तु वही वाक्य अलंकारों के प्रतिपादन में अनुग्रहवाक्य बन गया। दण्डी का निम्न कथन सत्य है कि आज भी नये नये अलंकारों की उद्‌भावना हो रही है उनका पूर्ण कथन नहीं हो सकता है–

"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।। (काव्यादर्श 2.1)

अलंकारों का वर्गीकरण

काव्य का शरीर शब्दार्थ निरूपित किया गया है अतः शब्द और अर्थ को ही वर्गीकरण का आधार निरूपित किया गया। शब्दालंकारों का चारुत्व शब्दनिष्ठ होता है और अर्थालंकारों का चारुत्व अर्थनिष्ठ होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे अलंकारों की उद्भावना हुई जो उभयनिष्ठ थे। अतः शब्दगत अलंकार (अनुप्रासादि) अर्थगत अलंकार (उपमादि) और उभयगत अलंकार (संकर संसृष्टि आदि।। निरूपित हुए। अलंकारों का मिश्रण दो प्रकार का होता है—

1. तिलतण्डुलवत्—परस्पर निरपेक्ष सत्ता।
2. नीरक्षीरवत्—परस्पर सापेक्ष सत्ता।

अर्थालंकारों के वर्गीकरण में रुद्रट और रुय्यक का नाम अति प्रख्यात है। रुद्रट ने सभी अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभाजित कर—वास्तव, औपम्य अतिशय और श्लेष, उनका प्रतिपादन किया और रुय्यक ने सादृश्यमूलक, विशेषणमूलक विरोधमूलक, गम्यर्थतामूलक, न्यायमूलक, शृंखलामूलक और गूढार्थमूलक में विभक्त किया—

प्रतिभासम्पन्न कवि का वर्णनपक्ष चमत्कारोत्पादक होता है। वह उसका वर्णन अनन्त प्रकारों से कर सकता है। वे ही अलंकार हैं और उनका वर्गीकरण भी अनेक दृष्टियों से हो सकता है।

अलंकारों का मूलतत्त्व

भामह के अनुसार अलंकार का मूलतत्त्व अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह अतिशयोक्ति का ही पर्यायवाची पद वक्रोक्ति प्रयुक्त करते हैं। वक्रोक्ति ही काव्य का और अलंकारों का भी अनिवार्य तत्त्व है। अतिशयोक्ति पद का अर्थ उनके अनुसार 'लोकातिक्रान्तगोचर वचन' है—निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा। काव्या लंकार 2.8।

अतिशयोक्ति चमत्कारिक कथन कहलाता है और वक्रोक्ति सुन्दर कथन' अतः भामह वक्रोक्ति के बिना अलंकार ही नहीं मानते। यथा—सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविनाकार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।। (काव्यालंकार 2.85)

वक्रोक्ति से ही अलंकारों में चमत्कार उत्पन्न होता है। इसीलिये भामह हेतु, सूक्ष्मादि अलंकार नहीं मानते हैं क्योंकि इनमें वक्रोक्ति का अभाव है।

दण्डी ने काव्यादर्श में अतिशयोक्ति को ही अन्य अलंकारों का प्रधान और सर्वश्रेष्ठ आधार माना है—अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्। वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।। (काव्यादर्श 2.220)

अतिशयोक्ति अलंकारों में श्रेष्ठ भी है— विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।

असावतिशयोक्तिःस्यादलंकारोत्तमा यथा।। (काव्यादर्श. 2.114)

इसीलिये दण्डी ने, समस्तवाङ्मय का विभाजन दो भागों 'स्वभावोक्ति और वक्रोक्तिः' में किया है 'भिन्नं द्विधास्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। (काव्यादर्श. 2.363)

आनन्दवर्धन अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का गर्भितत्त्व स्वीकार करते हैं, प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्य क्रियते।

मम्मट ने विशेष अलंकार का निरूपण करते समय अतिशयोक्ति को ही समस्त अलंकारों का प्राणतत्त्व स्वीकार किया है—सर्वत्र एवंविध विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारयोगात्'' (काव्यप्रकाश, विशेषालंकार)

अत एवोक्तम्—''सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽया विना।।

मम्मट ने अन्यत्र वैचित्र्य को अलंकार तथा समस्त अलंकारों का आधार स्थापित किया है—'वैचित्र्यमलंकारः' इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलंकारभूमिः। (काव्यप्रकाश 9. श्लेषप्रकरण)

भामह प्रतिपादित वक्रोक्ति ही अलंकारों का मूलतत्त्व है, वही अतिशयोक्ति यीं वैचित्र्य है। वक्रोक्ति अनिवार्य तत्त्व है और वाणी का सौन्दर्य काव्य नें उनके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता से ही निष्पन्न होता है—'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय काव्यालंकार कल्पते।' काव्यालङ्कार 5.66

अलंकारों का विनियोग

अलंकारों के विनियोग का विवेचन अनेक आचार्यो ने किया है। सर्वत्र हठात्, अलंकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जिस अलंकार के प्रयोग से वर्ण्य-विशेष में चारुत्व उत्पन्न होता हो, जिसका प्रयोग वहाँ पर अपेक्षित है, अन्यत्र नहीं। भरत के अनुसार लोकजीवन में भी आभूषण (अलंकार) का यथास्थान प्रयोग करने पर ही सौन्दर्य की वृद्धि होती है। गले में कोई करधनी नहीं पहनता, उसकी शोभा रमणी के कमर में ही है–'स्थाने चालंकारं कुर्यान्नह्युरसि कंचिका बध्येत्।' (ना.शा. 29.74)

भरत ने नाट्यशास्त्र में यद्यपि उपमा, रूपक, दीपक और यमक–चार ही अलंकारों का दृश्य काव्य के सन्दर्भ में निरूपण किया है तथापि उन्होंने अलंकारों का विनियोग रसोन्मुखी माना है–

'एवमेतेह्यलंकारा गुणादोषाश्च प्रकीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रस संश्रयम्।।

इस प्रकार अलंकारों का 'रसानुगं' या 'यथारसम्' प्रयोग होना चाहिये। भरत द्वारा प्रतिपादित अलंकारों के विनियोग का विस्तृत विश्लेषण आनन्दवर्धन ने किया। अलंकारों का प्रयोग 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' और 'रसाक्षिप्त' होना चाहिये–

'रसाक्षिप्ततया यस्य बंधः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।। (ध्वन्यालोक 2.16)

अलंकारों का 'रस पर्यायवसायित्व' होना अपेक्षित है। अलंकार रसानुगामी हो तभी उसकी पूर्णता है। रस, भावादि का आश्रयण करके सभी अलंकारों का निबन्धन अलंकारत्व का साधन है–

'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्।।

अभिनवगुप्त ने रस को अलंकार्य माना है अतः उसके रहने पर ही अलंकार शोभावह होते हैं। शवशरीर में अलंकार व्यर्थ हैं और यतिशरीर में अलंकारों की सत्ता हास्यावह होती है।

"अचेतन शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात् नहि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालंकार्यः" (ध्वन्या. लोचन. 2.5 वृत्ति)

इस प्रकार अलंकार सम्प्रदाय अत्यधिक विशाल है। यद्यपि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ऐसा वाक्य उपलब्ध नहीं है, जिसमें अलंकार को काव्यात्मा कहा हो, तथापि उसका विवेचन अधिक हुआ। काव्य में उसकी उपादेयता प्रमुख है। वामन ने 'सौन्दर्य' मानकर अलंकारों के महत्त्व का प्रतिपादन किया और अलंकार के अन्तर्गत सभी सौन्दर्यवर्धक तत्त्व निरूपित हुए। अलंकार सम्प्रदाय में रस को भी एक अलंकार मानकर दण्डी, भामहादि आचार्यों ने निरूपित किया।

(ख) रीति सिद्धान्त

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। सर्वप्रथम उन्होंने रीति को काव्यात्मा माना और उसका शास्त्रीय विवेचन तथा सोदाहरण भेदों का निरूपण किया। काव्यशास्त्र के इतिहास में 'आत्मा' पद का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने ही किया। (रीतिरात्मा काव्यस्य, 1.2.6) वामन के पूर्व रीति पद का प्रयोग अनुपलब्ध है। उसके स्थान पर प्रवृत्ति, काव्य, मार्ग, वर्त्म, पद्धति, गति आदि पदों का प्रयोग मिलता है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में रीति का उद्भावक आचार्य सुवर्णनाभ का माना है (रीति निर्णयं सुवर्णनाभः, प्रथम अ.) परन्तु सुवर्णनाभ नामक आचार्य को रीति के प्रवर्तक के रूप में किसी भी अन्य ने नहीं माना है। अतः वामन को ही रीति सिद्धान्त का प्रवर्तक आचार्य मानना तर्कसंगत है।

रीति पद का अर्थ

रीति पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मार्ग, वर्त्म है। 'रीङ् गतौ धातुः'। वह मार्ग रीति कहलाता है जिस पर चलकर काव्य-रचना की जाती है। फलतः काव्यपद्धति रीति है। भोजराज ने रीति पद की निष्पत्ति गमनार्थक 'रीङ्' धातु से ही मानी है, जिसे वे मार्ग का अपर पर्याय मानते हैं—

'वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।
रीङ् गतावितिधातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते।। (सरस्वतीकण्ठामरण. 2.51)

रीतिपद का प्रयोग ऋग्वेद (2.24.14 महीव रीतिः) में स्तुति के अर्थ में उपलब्ध है। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की कामधेनु नामक टीका में 'रीङ्' धातु को क्रियादि और दिवादिगण की मानकर मार्ग और क्षरण (प्रवाह) किया है—

1. रीणयन्ति गच्छन्ति अस्यां गुणा इति।
2. रीयते क्षरन्ति अस्यां वाङ्मधुधारेति वा रीतिः।

अतः रीति पद का व्याकरण सम्मत अर्थ वर्त्म, मार्ग, गति है। आचार्यों ने इसे एक विशेष प्रकार की रचना शैली मानकर इसका निरूपण किया है।

वामन के पूर्व रीति तत्त्व

वामन के पूर्व किसी भी आचार्य ने रीतिपद का प्रयोग नहीं किया है। इनके पूर्व भरत ने प्रवृत्ति, भामह ने काव्य और दण्डी ने मार्ग, वर्त्म, गति, पद्धति आदि पदों का प्रयोग रीति के स्थान पर किया है।

भरत और बाणभट्ट

नाटयशास्त्र काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी मूल-ग्रन्थ है। इसमें उस समय विभिन्न देशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और उड्रमागधी, का उल्लेख किया है।

'चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्तानाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चोड्रमागधी।। (नाटयशास्त्र 14.36)

भरत ने प्रवृत्ति का अर्थ जीवनचर्या किया है (पृथिव्यां नानादेश वेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः) भरत के अनन्तर हर्ष चरित की प्रस्तावना में बाणभट्ट ने उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य और पौर्वात्य का उल्लेख किया है जो क्रमशः श्लेष, अर्थ उत्प्रेक्षा और अक्षरडम्बर को महत्त्व देते हैं—

'श्लेष प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिइणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः।।

वास्तव में बाण के वर्णन का यह अर्थ है कि उस समय चार दिशाओं में चार प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थीं।

भामह

भामह ने प्रवृत्ति या रीति पद का प्रयोग न कर 'काव्य' पद का प्रयोग किया है। उनके अनुसार देश भेद के आधार पर उनका प्रतिपादन निःसार है। नाम से कोई सुन्दर या असुन्दर नहीं होता। उन्होंने 'वैदर्भ' और 'गौड़' दो प्रकार का 'काव्य' माना है। वैदर्भ भी हीन कोटि का और गौड उच्चकोटि का काव्य हो सकता है। दोनों की पार्थक्य रेखा खींचना सम्भव नहीं।

दोनों का महत्त्व है—

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्।।
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।। (काव्यालंकार 1.31.32)

दण्डी

दण्डी ने प्रवृत्ति, रीति, काव्य पदों के स्थान पर वर्त्म, मार्ग, गति, पद्धति आदि पदों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। इनमें वैदर्भ और गौड मार्ग का पार्थक्य स्फुट हैं वैदर्भ मार्ग के दशगुण श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति ओर समाधिप्राण है। गौडमार्ग में प्रायः इनका विपर्यय परिलक्षित होता है--

अस्त्यनेकोगिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्ममि।। (काव्यादर्श, 1.40.42)

वामन

रीतिपद का प्रयोग वामन से प्रारम्भ हुआ। भामह और दण्डी ने भिन्न-भिन्न पदों का प्रयोग और उनका विवेचन किया परन्तु रीति की परिभाषा वामन ने सर्वप्रथम प्रस्तुत की। इस प्रकार रीति पद के प्रथम प्रयोक्ता रीति के प्रथम लक्षणकर्ता और रीति को 'काव्यात्मा' प्रतिपादित करने वाले या रीति प्रस्थान के प्रथम प्रवर्तक आचार्य वामन हैं।

वामन के अनुसार 'विशिष्ट पद रचना रीति है, जो कि काव्य की आत्मा है। विशिष्ट पद का अर्थ है गुण सम्पन्न रचना और गुण से तात्पर्य है काव्यशोभाकारकधर्म। फलतः काव्यशोभाकारक गुण से युक्त शब्द और अर्थ से युक्त पद-रचना रीति है।

रीतिरात्मा काव्यस्य 1.2.6
रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्ये वेति वाक्यशेष।। 6।।
विशिष्टा पदरचना रीति 1.2.7
विशेषो गुणात्मा 1.2.8

इससे स्पष्ट है कि वामन ने रीति को गुणों पर निर्भर माना है। उनके अनुसार काव्य में गुणों का विशेष स्थान है। वासन्ती बयार से जैसे उपवन में नवीन संचार होता है वैसे ही गुणों से काव्य में सौन्दर्य की स्थिति है। काव्य की आत्मा रीति है और वह गुणतत्त्व से ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है। वामन के अनुसार जिस प्रकार शरीरस्थित जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है उसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्त्व 'रीति' है। काव्य में शब्द तथा अर्थ शरीर स्थानीय है और 'रीति' आत्मस्थानीय तत्त्व है। काव्य का सर्वस्व रीति है।

रीति के भेद

वामन ने तीन रीतियाँ और उनका सोदाहरण विवेचन किया है। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली—तीन रीतियाँ हैं और इनके प्रादेशिक आधार का खण्डन करते हैं तथा रीतियों का भेदक तत्त्व गुण निरूपित करते हैं।

वैदर्भी

वैदर्भी सम्पूर्ण गुणों से युक्त रचना है अर्थात् वामनाभिमत दशगुणों का समावेश वैदर्भी में रहता है। उनके अनुसार वीणा के स्वर के समान श्रवणसुभग रीति वैदर्भी कहलाती है—

'समग्रगुणा वैदर्भी 1.2.11

वामन द्वारा रीति को पुनः वह स्थान काव्य में न मिल पाया, जो उसे उन्होंने प्रदान किया था। उनके अनुसार गुण सम्पन्न पद-रचना रीति है और यही काव्य की आत्मा है। अतः काव्य मूलतः पद रचना है। वामन के रीति भेद भी खण्डित और मण्डित होते रहे। वामन ने शब्द सौन्दर्य, अर्थसौन्दर्य और उक्ति सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की परन्तु रीति के सन्दर्भ में इन्हें मान्यता नहीं मिली।

रीति का आधार

रीति के आधार तत्त्व के सम्बन्ध में अलग अलग विचार उपलब्ध होते हैं।

भौगोलिक आधार

दण्डी ने प्रादेशिक आधार मानकर वैदर्भ और गौड़ मार्ग का निरूपण किया। अतः रीतियों को विशिष्टता का आधार उनके अनुसार प्रादेशिक है। वामन ने इसका खण्डन किया और कहा कि यदि प्रदेश–विशेष को आधार माना जायेगा तो अनन्त रीतियाँ होंगी। भामह ने भी प्रादेशिक आधार का निराकरण किया है।

गुण आधार

वामन ने रीति का आधार तत्त्व गुण निरूपित किया और गुणों के आधार पर ही तीन रीतियों का निर्धारण किया। रीतियों का नाम भले ही प्रदेश के आधार पर प्रतीत होता है परन्तु प्रदेश से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वैदर्भ निवासी कवि गौडी या पांचाली में रमणीय रचना कर सकता है अतः उसका आधार गुण ही है।

समास आधार

वामन ने गौणी का विवेचन करके समय समास का संकेत किया और परवर्ती काल में रीति का आधार तत्त्व समास निरूपित होने लगा। रुद्रट और आनन्दवर्धन ने रीति का आधार समास ही माना है।

कविस्वभाव आधार

कुन्तक ने 'कविस्वभाव' को आधार माना तथा उसे कवि प्रस्थान हेतू कहा। कवि स्वभाव के अनुसार भाव या कला पक्ष का आश्रय लेता है और उसी के अनुसार काव्य रचना करता है।

दर्णगुम्फन और रस आधार

मम्मट ने वृत्ति (रीति) का आधार वर्ण माना है। 'नियतवर्णगत' होने से ही रसानुकूल व्यापार फलित होगा। आनन्दवर्धन ने भी रीतियों का आधार रस माना तथा विश्वनाथ ने रीति को 'उत्कर्षाधायकत्त्च' निरूपित किया तथा उसे 'उपकत्री 'रसादीनां' कहा। इस प्रकार रीति के आधार भिन्न भिन्न हैं।

भरत से लेकर सदैव रीतितत्त्व का विवेचन होता रहा। उसका लक्षण, उसके नाम, उसका आधार तथा उसके भेदों का समग्र विवेचन भी प्रत्येक आचार्य ने अपनी प्रतिभा के अनुसार किया। वामन उनमें अग्रणी और संस्थापक आचार्य हैं।

(ग) वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के संस्थापक, मौलिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य कुन्तक का शास्त्रीय और व्यावहारिक चिन्तन उच्चकोटि का है। यह सिद्धान्त परम्परानुमोदित और दीर्घकालीन विचार परम्परा की परिणति है।

वक्रोक्ति पद का अर्थ

वक्रोक्ति पद का अर्थ घुमावदार, कथन होता (वक्र+उक्ति)। इस अर्थ में इसका प्रयोग प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है। बाण ने कादम्बरी में 'वक्रोक्तिनिपुणेन' पद का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ 'वक्रवाक्यकथनचतुर' अर्थात् वचन-विदग्धता का पर्याय है। क्योंकि बाणभट्ट को 'वक्रोक्तिमार्गनिपुण' कवि माना गया है। शाब्दिक अर्थ (वाक्छल) की अपेक्षा शब्द और अर्थ के चमत्कार से सम्पन्न कथन है। चमत्कारपूर्ण कथन से विदग्धजन सन्तुष्ट होते हैं।

आचार्य कुन्तक ने इसका शाब्दिक अर्थ न लेकर व्यापक अर्थ लिया है। मात्र उक्ति को काव्य नहीं कहा जा सकता है परन्तु यदि उक्ति सुन्दर, रमणीय, मनोहर, लोकोत्तर है तो उसे काव्य कहा जाता है, अतः वक्रोक्ति पद का अर्थ सुन्दर कथन, चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति है। उनके अनुसार—

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभगिणतिरुच्यते'

वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्यमङ्गीभणितिः वैदग्ध्यं विदग्धभावः कवि कौशलम्। तस्य भङ्गी विच्छिन्तिः तया भणितिः। (काव्य वक्रोक्तिजीवितम् 1.10)

अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। भङ्गीपद का अर्थ शोभासम्पन्न, और भणिति का अर्थ कथन है। चमत्कारपूर्ण, चारुता सम्पन्न कथन करने के विशेष ढंग को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है। यह वक्रोक्ति प्रसिद्ध प्रस्थान से नितान्त भिन्न' है। वक्रता लोकोत्तरता का पर्याय है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति का नया अर्थ निर्धारित किया ओर उसे एक विराट् स्वरूप प्रदान किया। वक्रोक्ति की ज्योति से अन्य सभी तत्त्व उद्भासित हुए। वक्रोक्ति पद का सीमित या संकुचित अर्थ न लेकर उसका सर्वथा नवीन अर्थ प्रतिपादित किया और काव्य में सर्वत्र व्याप्त तत्त्व माना। कुन्तक के पूर्व और बाद में वक्रोक्ति पद का प्रयोग हुआ परन्तु उसका अर्थसंकोच या अर्थविस्तार अर्थ लेकर आचार्यों ने विवेचन किया।

कुन्तक के पूर्व वक्रोक्ति

कुन्तक के पूर्व भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और आनन्दवर्धन प्रभृति आचार्यों ने वक्रोक्ति का विवेचन किया है।

भामह

भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक तत्त्व माना और उनके अनुसार काव्य को वक्रोक्तिगर्भित होना चाहिये। शब्द और अर्थ की वक्रता काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। वक्रत्व के अभाव में ही भामह ने हेतु सूक्ष्मादि को अलंकार नहीं माना। वक्रोक्ति के बिना काव्य में सौन्दर्य नंहीं आ सकता। सामान्य कथन से विलक्षण कथन ही वक्रोक्ति है। उनके अनुसार 'भातीन्दुः यान्तिवासाय पक्षिणः' में वक्रोक्ति के अभाव के कारण ही काव्यत्व नहीं है। भामह सभी अलंकारों का मूलतत्त्व वक्रोक्ति मानते हैं–

1. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः। काव्यालङ्कार 1.36
2. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते। काव्यालङ्कार 5.66
3. ऐषा सर्वत्र वक्रोक्तिः कोऽलंकारोऽनया विना। काव्यालङ्कार 2.85

अतः भामह के अनुसार लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति अर्थात् शब्दार्थ का लोकोत्तर-चमत्कारपूर्ण कथन ही काव्य का महनीय तत्त्व है।

दण्डी

दण्डी ने स्वभावोक्ति (याथातथ्य कथन) और वक्रोक्ति (चमत्कारपूर्णकथन में वाङ्मय का विभाजन किया–

'द्विधाभिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङ्मयम्। (2.362)

काव्य में चमत्कारपूर्ण वर्णन अपेक्षित है। लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा वक्रोक्ति है जो अतिशयोक्ति का पर्याय है। दण्डी और भामह ने वक्रोक्ति का निरूपण व्यापक परिधि में किया।

वामन, रुद्रट

वामन ने वक्रोक्ति का अर्थ एक अर्थालंकार मात्र लिया। अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में उन्होंने इसका प्रयोग किया। उन्होंने वक्रोक्ति का अर्थसंकोच और उसकी व्याप्ति को कम किया। सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा वक्रोक्ति एक अर्थालंकार (सादृश्याल्लक्षणा (वक्रोक्ति 4.3.8) है। रुद्रट ने वक्रोक्ति की सीमा को और संकुचित किया। रुद्रट ने वक्रोक्ति को वाक्छलरूप शब्दालंकार मात्र माना और काकुवक्रोक्ति तथा श्लेष वक्रोक्ति–दो प्रकार निरूपित किया। कुन्तक के अनन्तर भी मम्मट, विश्वनथ आदि आचार्यों ने रुद्रट की ही सरणि पर वक्रोक्ति का निरूपण किया।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह की ही धारणा को महत्त्व दिया और समस्त अलंकारों का मूलतत्त्व वक्रोक्ति को स्वीकार किया। 'वक्रोक्ति शून्य' कथन अलंकार विहीन होता है। शब्द की और अर्थ की लोकोत्तर वक्रता ही अलंकार सामान्य की आधारभूमि है।

कुन्तक का चिन्तन

कुन्तक ने अपनी प्रखर प्रतिभा के आधार पर वक्रोक्ति को काव्यात्मा स्वीकार कर उसका विस्तृत विवेचन किया। उनका चिन्तन भामह और दण्डी के चिन्तन को दाय के रूप में स्वीकार कर उसे काव्य का सर्वव्यापक और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रतिपादित करता है। कुन्तक का चिन्तन अति व्यवस्थित और पूर्ण सन्तुलित है। महाकवियों के ग्रन्थों से वक्रोक्ति तत्त्व को प्रामाणिक, उपादेय और सर्वग्राह्य तत्त्व निरूपित किया। समस्त काव्य तत्त्वों को वक्रोक्ति ने समेट लिया और उसे शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के कठघरे से निकाल कर व्यापक स्वरूप प्रदान किया। वह न तो वाक्‌चातुर्य है और न ही उक्तिचातुर्य, अपितु कवि व्यापार कौशल है और वक्रोक्ति पर ही काव्य की समस्त शोभा निर्भर है।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने शब्द और अर्थ की 'अन्यून-अतिरिक्त मनोहरिणी तथा परस्पर स्पर्धित्व से युक्त वक्रोक्ति के प्रमुख छः भेदों का विवेचन किया है। इन छः प्रकार की वक्रोक्ति, के अन्तर्गत सभी प्रकार के काव्यतत्त्व विद्यमान हैं। उनके अनुसार 'कविव्यापारवक्रत्व' छः प्रकार का होता है। वैचित्र्यशोभासम्पन्न इन छः भेदों के अनेक अवान्तर भेद और सौन्दर्य उत्पादन करने के विभिन्न साधन हैं।

1. वर्ण विन्यासवक्रता

वर्ण विन्यासवक्रता व्यञ्जन वर्णों के सौन्दर्य पर आधारित है। स्वाभाविकरूप से उत्पन्न नादसौन्दर्य और संगीतमयता मधुर एवं कर्णप्रिय वर्णों से उत्पन्न होती है। इसे ही चिरन्तन आचार्यों ने अनुप्रास और यमक अलंकार माना है। वर्णों की विषयानुकूलता और रसानुकूलता अपेक्षित है। वर्णपद व्यंजन का पर्याय है। काव्य का प्रथम आधार वर्ण होता है। अतः वर्ण पर आश्रित चमत्कार प्रथम परिगणित है। वर्णगत सौन्दर्य अर्थज्ञान के अभाव में भी चमत्कृत करने वाला है। जयदेव का गीतगोविन्द और उसका 'ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' मानो वर्ण विन्यासवक्रत्व के कारण अंग स्पर्श करता हुआ प्रवाहित हो रहा है।

2. प्रकृतिवक्रता

अनेक वर्णों के समुदाय से पद निष्पन्न होता है। काव्य का यह दूसरा अवयव है। इसके पदपूर्वार्ध को प्रकृति और पदपरार्ध को प्रत्यय कहते हैं। अतः पद के पूर्वार्ध अर्थात् प्रकृति (धातु) पर आश्रित वक्रता ही प्रकृतिवक्रता है। जैसे यदि शिव का भयावह या वीभत्स स्वरूप प्रकट करना कवि को अभिप्रेत है तो वह शिव के अनेक पर्यायवाची पदों में 'कपाली' पद का ही प्रयोग करेगा।

कुन्तक प्रकृतिवक्रता के आठ–1. रूढ़ि-वैचित्र्य, 2. पर्याय, 3. उपचार, 4. विशेषण, 5. संवृत्ति, 6. वृत्ति, 7. लिंग और 8. क्रिया वैचित्र्यवक्रता, भेदों का सोदाहरण वर्णन किया है। जैसे

'त्रायन्तां वो मधुरिपो प्रपन्नार्तिच्छिदोनखाः'

इसमें क्रियावैचित्र्य स्पष्टतया चमत्कारकारी है। क्योंकि नखों से छेदन (ठोसवस्तु) का कार्य लौकिक है, परन्तु उन्हीं नखों से शरणागत के दुःख का छेदन (विनाश) वैचित्र्य उत्पन्न करता है।

3. प्रत्ययवक्रता

पद के उत्तरार्ध में सत्कवि ऐसे प्रत्ययों का प्रयोग करता है जिससे वैचित्र्य उत्पन्न होता है। उसके काल, कारक, संख्या, पुरुष उपग्रह, प्रत्यय और उपसर्ग आदि भेद होते हैं। इसमें प्रत्ययोत्पादित अर्थ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है।

संख्या वैचित्र्य—

'वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकरहतास्त्वं खलुकृती'

दुष्यन्त एकाकी है अतः अहं का प्रयोग व्याकरणानुगत होता परन्तु कवि 'वयं' का प्रयोग कर चारुत्व उत्पन्न करता है।

'येषां कुलेषु सविता गुरुर्वयं च'

यहाँ पर वशिष्ट द्वारा वयं पद चमत्कारी है।

4. वाक्यवक्रता

पदों के समुदाय से वाक्य निर्मित होता है। कुन्तक ने वाक्यवक्रता के अन्तर्गत समस्त अलंकारों का अन्तर्भाव किया है। चेतन-अचेतन का शोभाकारी वर्णन वाक्यवक्रताजन्य है। इसमें सहज निबन्धन और आहार्य (व्युत्पत्तिप्रधान) निबन्धन होता है। प्रकृति का मनोहारी वर्णन वाक्यवक्रता के अन्तर्गत है।

5. प्रकरणवक्रता

कवि किसी विशेषप्रकरण में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न करता है। उसके कारण उस ग्रंथ की महत्त द्विगुणित हो जाती है। समग्र कथावस्तु माला में गुम्फित पुष्पों की भाँति होती है जिसमें अनेक प्रकारण होते हैं परन्तु कभी कभी कोई पुरुष विशेष अधिक प्रफुल्लित होता है। वह पाठकों की भावना को अधिक आकर्षित करता है। दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त शकुन्तला के औचित्य ओर नायक के चारित्र्य की रक्षार्थ कवि ने दुर्वासा शाप की योजना प्रस्तुत की। यह उत्पाद्यलावण्यं कथावस्तु का सर्वस्व है।

6. प्रबन्धवक्रता

अनेक प्रकरण मिलकर पूरे प्रबन्धनाटक महाकाव्य आदि, का निर्माण करते हैं। समस्त सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का साधन प्रबन्ध है। 'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावागादिवत्' इस कथ्य की सिद्धि समग्र रामायण से है। रामायण में करुणरस और महाभारत में शान्तरस आद्योपान्त अन्तः सलिला सरस्वती की भाँति प्रवाहित हैं। वही मुख्य प्रतिपाद्य है। सबसे अधिक महत्त्व रस, भाव का है, जिसकी कवि प्रतीति कराता है।

महत्त्व

कुन्तक ने वक्रता के छः भेद माने और उसका सुन्दर शास्त्रीय प्रतिपादन किया, जो भाषा के प्रारम्भिक तत्त्व को लेकर चलती है और प्रबन्ध रूपी महासागर में विलीन होती है। वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक वक्रोक्ति परिव्याप्त है। उक्तिरूप काव्य की लघुतम इकाई वर्ण है।, वर्ण के अनन्तर 'पद' का स्थान है। पद का निर्माण 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' के योग से होता है। पद के अनन्तर भाषा का अग्रिम अंश 'वाक्य' होता है। अनेक वाक्यों के समुचित संयोजन से 'प्रकरण' का निर्माण होता है और काव्य का सबसे बड़ा रूप 'प्रबन्ध' है। अतः कुन्तक ने वर्णवक्रता से लेकर प्रबन्धवक्रता तक का सतर्क सुन्दर प्रतिपादन किया है। वक्रोक्ति के आधार पर कुन्तक की व्यावहारिक समीक्षा की परिधि में कालिदास, भवभूति, राजशेखर आदि कवि आ गये हैं और उनके गुण-दोषों का सम्यक् परीक्षण हुआ है।

कुन्तक के पश्चात् वक्रोक्ति को एक अलंकार मानकर ही उसका विवेचन होता रहा। उसे वह महिमा-मण्डित स्थान नहीं मिला, जो कुन्तक ने प्रदान किया था।

काव्य-शास्त्र के आचार्य—कलाक्रमानुसार

300 ईस्वी पूर्व से 600 ईस्वी तक

(1) भरतमुनि, (2) भामह, (3) दण्डी, (4) भामह तथा दण्डी का साम्य वैषम्य।

1. आचार्य भरत

काव्यशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। नाट्यशास्त्र एक महनीय ग्रन्थ है जिसमें वर्णित विषयों की व्यापकता विशाल है। साहित्यशास्त्र के परवर्ती आचायो ने भरत का ससम्मान अनेकत्र उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र के रचियता भरत के सम्बन्ध में तीन मान्यतायें प्रचलित हैं।

1. पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार

भरत व्यक्तिवाची संज्ञा न होकर जातिवाची संज्ञा है अर्थात् भरत नामक कोई विशेष व्यक्ति नहीं था जिसने नाट्यशास्त्र नामक ग्रंथ की रचना की, अपितु भरत नट का पर्यायवाची पद है। प्राचीनकाल में अभिनयकर्ताओं को भरत कहा जाता था। स्वयं नाट्यशास्त्र में 'भरतैः नटैः प्रणीतत्वात्' आदि पदों का प्रयोग है। नटों के अभिनय से सम्बन्धित कुछ नियम निरन्तर बनते रहे। आगे चलकर जब वे नियम संकलित हुए तो ग्रन्थ को नाट्यशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया।

2. भारतीय परम्परा के अनुसार

भरत जातिवाची संज्ञा न होकर व्यक्तिवाची संज्ञा है और भरत ही नाट्यशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रख्यात हैं। संस्कृत साहित्य में भरत नाम से अनेक व्यक्तियों का उल्लेख पाया जाता है। दशरथनन्दन भरत, शकुन्तला पुत्र भरत, मान्धाता के प्रपौत्र भरत तथा नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत। परन्तु प्रारम्भिक तीनों भरत राजपुत्र थे ओर इस कारण उनके नाम के साथ 'मुनि' पद का प्रयोग उपलब्ध नहीं है, जबकि नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत के नाम के साथ सर्वत्र मुनिपद का प्रयोग मिलता है।

महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीय (2.18) में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाम का एकवचनान्त प्रयोग कर व्यक्तिवाची संज्ञा माना है—

> मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
> भवनीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
> ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
> मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।

महाकवि भवभूति ने भी उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में कहा है— 'भगवन्तो भरतस्य मुनेस्तौर्यत्रिक सूत्रकारस्य'

यहाँ पर भी 'भरतमुनि' पद का प्रयोग एकवचनान्त किया गया है। अतः भरत नाट्यशास्त्र के रचयिता के रूप में कालिदास, भवभूति को मान्य थे। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यो ने, जिनमें धनञ्जय, अथिनवगुप्त, मम्मट आदि प्रमुख हैं, भरत का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त तो नाट्यशास्त्र के प्रख्यात टीकाकार हैं।

3. तीसरी धारणा के अनुसार

भरत पद अनेक पदों के प्रथम वर्ण को ग्रहण कर निर्मित किया गया है। वस्तुतः भाव, राग तथा ताल पदों के आदि अक्षर (भ, र, त) के मेल से भरत पद निर्मित है अतः भरत को व्यक्ति मानना ठीक नहीं। इस मत के अनुसार नाट्यशास्त्र का प्रमुख विषय भावों, रागों तथा तालों का वर्णन है। भावों का सम्बन्ध चित्रवृत्ति से, रागों का सम्बन्ध व्यक्ति के स्वरयंत्र से तथा वाद्ययंत्रों का सम्बन्ध तालों से है। सार रूप में नाट्यशास्त्र में उपर्युक्त तीनों विषयों का विस्तृत विवेचन है।

नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत हैं और यही मत तर्कसंगत और युक्तिपूर्ण है।

भरतमुनि के काल का निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। जो विद्वान् भरत को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानकर

काल्पनिक मानते हैं, उनके अनुसार नाट्यशास्त्र का रचयिता भरत काल्पनिक है अतः उसका समय निर्धारण करना व्यर्थ परिश्रम है परन्तु भारतीय कवि, आचार्य उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। चूँकि भरत के नाम का प्रथम उल्लेख कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में किया है अतः भरत कालिदास के पूर्व प्रख्यात आचार्य थे।

मत्स्यपुराण के 24वें अध्याय में भरत का उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार भरतमुनि ने देवलोक में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटक का अभिनय करवाया था। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के आधार पर उपर्युक्त उल्लेख प्रतीत होता है। जिसमें भरत ने अपने अभिकर्ताओं शिष्यों का उल्लेख किया है।

अश्वघोष रचित 'शारिपुत्रप्रकरण' में नाट्यशास्त्र में वर्णित सिद्धान्तों का अनुकरण किया गया है तथा कवि की अपनी अन्य रचनाओं में भी नाट्यशास्त्र की पारिभाषिक पदावली (हाव, भाव हेला आदि) का प्रयोग मिलता है। अतः भरत अश्वघोष के पूर्ववर्ती हैं।

नाट्यशास्त्र में शक, यवन, पल्लव, तथा अन्य अनेक वैदेशिक जातियों का उल्लेख पाया जाता है, जिन्होंने भारतवर्ष पर प्रथम शताब्दी के आस पास आक्रमण किया था। उपलब्ध नाट्यशास्त्र का यही समय है। नाट्यशास्त्र का प्रारम्भिक रूप 'सूत्र' में उपनिबद्ध था, 300 सौ ई. के पूर्व तक माना जा सकता है क्योंकि सूत्रकाल का यही समय है।

नाट्यशास्त्र समस्त कलाओं का विश्वकोष है। स्वयं भरत ने 'नाट्यशास्त्र का परिचय दिया है—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला!
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते''

(ना.शा. 1.117)

अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र में 36 अध्याय हैं—

षट्त्रिंशक भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्''

परन्तु उत्तरी भारत के पाठयानुसार 37 अध्याय हैं। नाटयशास्त्र में प्रायः 6,000 श्लोक हैं। इसी कारण इसे 'षट्साहस्त्री संहिता' कहते हैं। 36 अध्यायों में साहित्य-संगीत-कला से सम्बन्धित विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसका विषय विवेचन विपुल तथा गम्भीर है। परवर्तीकाल में नाट्यशास्त्र को उत्स के रूप में स्वीकार कर अनेक सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ।

नाट्य सम्बन्धी सभी बातों की शास्त्रीय विवेचना का आधारभूत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है अतः भरत को 'नाट्यवेदविदामलंकारभूतः' कहना यथार्थ है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से 6,7,16,17,20,22 अध्यायों का ही महत्त्व है क्योंकि क्रमशः इनमें रसों, भावों वृत्तों, लक्षणों (अलंकार, दोष, गुण आदि भी) रूपकों तथा वृत्तियों का विवेचन है। अन्य अध्यायों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे पूरक हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय से प्रतीत होता है कि इन्द्र ने ब्रह्मा से पंचमवेद के निर्माण की प्रार्थना की कि वह सार्ववर्णिक दृश्य और श्रव्य क्रीडनीयक चाहता है—

'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्

तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।।

ब्रह्मा ने मन से चारों वेदों का मन्थन कर, उनका सारतत्त्व ग्रहण कर नाट्यवेद का निर्माण किया। ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद) सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लिया

'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयो रसानाथर्वणादपि।।

पाठ्य, गीत, अभिनय और रस नाट्य के मुख्य तत्त्व हैं।

नाट्यवेद 'सर्वजनसुखाय' और 'सर्वजन हिताय' की महती भावना से निर्मित हुआ। भरत ने नाट्यवेद के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए उसे शुभाशुभविकल्पक, विभिन्न भावों से सम्पन्न और लोक की प्रवृत्तियों का अनुकरण कहा है—

'भवतां देवतानां च शुभाशुभ विकल्पकैः।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः।।
नैकान्ततोऽत्रभवतां देवतां चापि भावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्!

क्वचिद् धर्मः क्वचित्ः क्रीडा, क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद् हास्यं क्वचिद् युद्धं क्वचित् कामः क्वचिद् वधः।।
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।।

(ना. शा. 1.106, 9.12)

रस की दृष्टि से नाट्यशास्त्र का छठा अध्याय महत्त्वपूर्ण है। भरतमुनि ने इस अध्याय के प्रारंभ में संभवतः नाट्य शास्त्र में वर्णित ग्यारह विषयों की सूची दी है जिनका विस्तृत विवेचन आगे उपलब्ध है। रस (आठ-शृंगारादि) भाव (आठ स्थायी, आठ सात्त्विक, तैतीस संचारी=उन्नचास भाव) अभिनय (आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्त्विक) धर्मी (लोकधर्मी-नाट्यधर्मी) वृत्ति चार—भारती, सात्त्वती, आरभटी, कैशिकी) प्रवृत्ति (चार—आवन्ती, दाक्षिणात्या, ओड्रमागधी, पाञ्चाली) सिद्धि (दैवी, मानुषी) स्वर (सात स्वर) वाद्य (चार प्रकार—तत अवनद्ध, घन, सुषिर) गान तथा रंग (आयत, वर्ग, त्रिभुजाकार)—नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रमुख विषय हैं। इसी अध्याय का निम्न सूत्र—

'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः'।

परवर्ती काल के आचार्यों की रसानुभूति सम्बन्धी सिद्धान्तों का आधार है। भावों का विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन सातवें अध्याय में है।

वस्तु, नेता, रस, अंक, वृत्ति आदि की दृष्टि से नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि दश रूपकों की चर्चा परवर्ती आचार्यों को मान्य रही है। इसमें उपमा, रूपक, दीपक और यमक चार अलंकारों का वर्णन, काव्य के दश गुण तथा दश दोष भी वर्णित हैं। नायक के भेदोपभेद, नायिकाओं के प्रकार सूत्रधार, विट, शकार, विदूषक, चेट आदि का विवेचन किया गया है।

नाट्यशास्त्र एक विशाल ग्रन्थ है। यह समस्त कलाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करने वाला प्रमुख ग्रन्थ है। नाट्य को देखने से सामाजिक के मन पर जो आनन्द प्राप्त होता है उसका पर्याप्त और सूक्ष्म विश्लेषण नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य है। महामहोपाध्याण पी. वी. काणे के अनुसार 'नाट्य विषयक सम्भवतया विश्व के नाट्य-साहित्य में इस ग्रन्थ का अद्वितीय स्थान है। नाट्यशास्त्र जितना सर्वस्पर्शी तथा गंभीर है, उसमें कला का जितना सूक्ष्म तथा व्यापक विवेचन है, उतना विश्व की अन्य भाषाओं के किसी एक ग्रन्थ में शायद मिले''। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास)

नाट्यशास्त्र के टीकाकार

नाट्यशास्त्र की एकमात्र टीका अभिनवगुप्त रचित 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। 'अभिनवभारती' से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त की टीका के पूर्व नाट्यशास्त्र की अनेक टीकायें थीं, जिनका अभिनवगुप्त ने पर्यालोचनं किया था तथा अपनी 'अभिनवभारती' नामक टीका में उन टीकाओं का उपयोग किया। परन्तु 'अभिनवभारती' के अतिरिक्त अन्य टीकायें विलुप्त हो गयीं। इन टीकाओं के ज्ञान का आधार अभिनवभारती है।

नाट्यशास्त्र का प्रख्यात 'रससूत्र', 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस–निष्पत्तिः' की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक और भट्टनायक—चार व्याख्याकारों का उल्लेख किया है। मम्मट 'रसानुभूति' की विवेचना में लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मत का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त पाँच टीकाकारों के अतिरिक्त कीर्तिधर ने भी नाट्यशास्त्र की टीका लिखी थी। 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रन्थ में शार्ङ्गदेव ने नाट्यशास्त्र के पाँच टीकाकारों का एक साथ उल्लेख किया है—

'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरो परः।।

इन टीकाकारों के अतिरिक्त अभिनवभारती में राहुल, भट्टयंत्र तथा हर्षवार्तिक का उल्लेख प्राप्त होता है।

नाट्यशास्त्र की सर्वाधिक प्रख्यात और पाण्डित्यपूर्ण अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' अथवा 'नाट्यवेदविवृत्ति' नामक टीका है। नाट्यशास्त्र को समझने के लिये अभिनवभारती की उपयोगिता अप्रतिम है। अन्य टीकायें उपलब्ध नहीं हैं अतः वे टीकायें पूरे नाट्यशास्त्र पर थीं अथवा किसी विशेष भाग पर—यह नहीं कहा जा सकता है। एकमात्र 'अभिनवभारती के द्वारा नाट्यशास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन होता है। नाट्यशास्त्र अत्यधिक दुरुह ग्रन्थ होता, यदि अन्य टीकाओं की भाँति अभिनवभारती भी उपलब्ध न होती। अभिनवभारती के कारण नाट्यशास्त्र सरल और सुबोध हो गया। नाट्यशास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के चिन्तन में 'अभिनवभारती' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

2. आचार्य भामह

काव्यशास्त्र के आचार्यों में भामह को अलंकारसम्प्रदाय का प्राचीनतम (जरत्तम) आचार्य माना जाता है। भामह की एकमात्र कृति 'काव्यालंकार' उपलब्ध है। भामह ने कृति के अन्त में अपने पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन्' बताया है। इससे अधिक जानकारी उनके वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान् मंगलाचरण में प्रयुक्त 'सर्वज्ञ' से बुद्ध अर्थ लेकर उन्हें बौद्ध प्रमाणित करते हैं—

'प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्काय कर्मभिः।।

परन्तु यह कथन तर्क संगत नहीं है क्योकि काव्यालंकार में सर्वत्र भामह ने ब्राह्मण परम्परा का अनुसरण किया है। भामह ने सर्वज्ञ को प्रणाम किया है, जो शिव की भी उपाधि है। 'काव्यालंकार' में रामायण और महाभारत के पात्रों तथा घटनाओं का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। भामह काश्मीर निवासी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे।

भामह की कालविषयक निश्चित तिथि के अभाव में केवल पूर्ववर्ती और परवर्ती सीमायें ही निर्धारित की जा सकती हैं। भामह के काव्यालंकार पर उद्भट ने टीका लिखी थी, जो 'भामहविवरण' के नाम से प्रख्यात है। उद्भट काश्मीर नरेश जयपीड की सभा में सभापति थे। जयापीड का समय राजतरङ्गिणी के अनुसार 779 ई. से 813 ई. तक है। अतः भामह निश्चित ही इसके पूर्व रहे होंगे।

बौद्ध दार्शनिक शान्तिरक्षित (7.5-762) ने अपने ग्रन्थ **तत्त्वसंग्रह** में भामह की कारिकायें उद्धृत की हैं। इसी प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में भामह का एक उदाहरण **शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च'** महान्तो गुरवःस्थिराः (काव्या. 3.28) देकर बताया कि इस कथन की अपेक्षा बाणभट्ट के कथन **'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'** में अधिक चमत्कार है। बाणभट्ट का समय 606 ई. से 647 ई. तक निर्धारित है। अतः भामह निश्चय ही इसके पूर्व थे।

काव्यालंकार में बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्ष-लक्षण का उद्धरण मिलता है। भामह दिङ्नाग के बाद के आचार्य हैं। दिङ्नाग का समय 500 ई. लगभग है। इन प्रमाणों के आधार पर भामह 500-550 ई. के आसपास विद्यमान थे।

भामह विरचित काव्यालंकार एक प्रामाणिक और नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 6 परिच्छेद हैं तथा 400 कारिकायें हैं। भामह के अनुसार यह ग्रंथ पाँच विषयों के विवेचन से सम्बन्धित है। प्रथम परिच्छेद में काव्यशरीर, द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद में अलंकार, चतुर्थ परिच्छेद में दोष, पंचम परिच्छेद में न्याय निर्णय और शब्द शुद्धि का विवेचन अन्तिम परिच्छेद में हुआ है। भामह ने सभी तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया है। लक्षणों का निर्माण कर तदनुसार उदाहरणों का भी निर्माण स्वयं भामह ने किया है। भामह को अपनी कवित्व-शक्ति पर पूरा आत्मविश्वास है।

भामह की देन

भामह काव्यशास्त्र के एक प्रकार से आद्याचार्य हैं क्योंकि भामह से ही काव्यशास्त्र का सुव्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। भामह के पूर्व का इतिहास या ग्रन्थ उपलबध न होने के कारण भामह को ही काव्यशास्त्रीय विषयों की गम्भीर विवेचना का प्रथम श्रेय जाता है। यद्यपि भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र में अलंकार, गुण, रीति आदि तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध है, तथापि भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक के दर्शन से उत्पन्न आनन्द था। सम्भवतः इसीलिए रुय्यक ने भामह को **'अलंकारतंत्र प्रजापतिः'** कहा है, जो सत्य है। भामह के पश्चात् प्रायः सभी आलंकारिकों ने भामह का सादर उल्लेख किया है। उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त आदि प्रख्यात आचार्यों ने भामह की मान्यताओं को स्थान दिया है। इससे ज्ञात होता है कि भामह काव्यशास्त्र के एक लब्धप्रतिष्ठित आचार्य हैं।

भामह के पूर्व का काव्यशास्त्र काव्यालंकार में समन्वित है, सुसम्बन्ध हुआ ऐसा करने में जिस अपूर्व प्रतिभा की आवश्यकता होती है वह भामह में थी। अतः ग्राह्य का ग्रहण और त्याज्य का त्याग भामह की धी से सम्पन्न हुआ। जिस प्रकार माली पुष्पों को पहचान कर उन्हें माला में स्थान देता है उसी प्रकार भामह ने उपादेय तत्त्वों का विवेचन काव्यालंकार में किया—

'गिरामलंकार निधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।। (काव्या. 3.58)

भामह निरूपित काव्य प्रयोजन परवर्ती काल के आचार्यों को मान्य रहा। काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी विवेचन ही अकेले भामह को गौरवान्वित करता है। उन्होंने उसका विस्तृत पटभूमि में विवेचन किया है। प्रेय के साथ श्रेय को समन्वित करने का श्रेय

भामह को ही है। काव्य के द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है। वह मोक्ष जो कि पुरुषार्थ में अन्तिम है, उपेय है। उसके लिए काव्य उपाय है, साधन है। काव्य को महनीय प्रतिष्ठा दिलाने का कार्य भामह ने सफलतापूर्वक किया। यह कार्य सामान्य नहीं था अत्यन्त ही कठिन था। भामह की यह उदात्त कल्पना पूज्य रही। भामह ने कीर्ति के साथ प्रीति (आनन्द) को भी काव्य प्रयोजन निरूपित किया। यथा—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु
वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च
साधुकाव्यनिबन्धनम्।। काव्यालङ्कार 1.2।।

सत्काव्य के निर्माण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में निपुणता, कीर्ति और आनन्द प्राप्त होता है।

नाट्यशास्त्र में भरत ने प्रयोजन का निरूपण करते उसे 'विनोदजनन' कहा—

विनोदजननं लोके नाट्यमेदत् भविष्यति
(नाट्यशास्त्र 1.122)

परन्तु भामह ने काव्य को विनोदजनक के स्थान पर प्रत्युत्पादक माना। प्रीति काव्य का अन्यतम प्रयोजन है जो भामह की सूक्ष्य विवेचनात्मक प्रतिभा को सूचित करता है। वह मनोरंजन के साधन के स्थान पर 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है। भामह का यह कार्य अप्रतिम है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्य काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रीति ही मानते हैं—

'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्। (ध्वन्यालोक. 1.1)

'सकलप्रयोजनमौलिभूतं रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यवेद्यान्तर मानन्दम। (काव्यप्रकाश. वृत्ति. 1.2)

भामह काव्य का लक्षण 'शब्दार्थोभयनिष्ठ मानकर करते हैं। उन्होंने इस परम्परा को जन्म दिया, जो मम्मट, कुन्तक आदि आचार्य प्रवरों को मान्य रही। काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ पद अपेक्षित है— "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्या. 1.16)

काव्यहेतु के निरूपण में भामह ने एक परम्परा को जन्म दिया, जिसे जगन्नाथ आदि आचार्य मानते हैं। भामह निरूपित काव्यहेतु सर्वमान्य है 'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।। (काव्या. 1.5)

प्रतिभा के अभाव में काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। कभी कभी प्रतिभा के रहने पर भी काव्य का निर्माण प्रेरकतत्त्व के अभाव में नहीं होता। आदिकवि वाल्मीकी इसके उदाहरण हैं। क्रौञ्चवध प्रेरक तत्त्व है। प्रतिभा तो इसके पूर्व भी विद्यमान थी। अंतः 'जातु' पद के द्वारा भामह का मन्तव्य आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर समझा जा सकता है। प्रतिभा के साथ प्रेरणा को समन्वित कर काव्यहेतु गवेषणा में भामह का प्रमुख स्थान है।

नाट्यशास्त्र में 10 गुणों का प्रतिपादन किया गया है— 'श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यभोजः पद सौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारतार्य कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।।

परन्तु उपर्युक्त 10 गुणों के स्थान पर भामह ने केवल तीन गुणों का विवेचन किया। माधुर्य, ओज ओर प्रसाद—ये ही तीन गुण हैं, इनका सम्बन्ध मन की वृत्ति से है। आर्दत्त्वःदीप्तित्व और व्याप्तित्व क्रमशः माधुर्य ओज और प्रसाद में होता है। गुणों को मन से सम्बन्धित करने का श्रेय भामह को ही है। यह उनकी तत्त्व ग्राहणी प्रतिभा का परिचायक है। गुणलय की 'परम्परा आनन्दवर्धन, मम्मट, प्रभृति आचार्यों को मान्य हुई।

भामह ने देशभेद से रीतिभेद मानने के मत का विरोध किया। कुन्तक ने भामह का अनुसरण कर रीति को देशाधार मानने का खण्डन किया। रीति के सन्दर्भ में भी भामह की मौलिकता झलकती है।

भामह ने वक्रोक्ति को काव्य का निष्पादक तत्त्व निरूपित किया। वक्रोक्ति को काव्य का व्यापक और अनिवार्य तत्त्व उद्घोषित किया—

वाचां वक्रार्थशब्दोक्ति
रलंकाराय कल्पते।।

वक्रोक्ति निःसन्देह एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी काव्य सन्दर्भ में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। कुन्तक ने भामह की

मान्यता को प्रश्रय दिया और नवीन वक्रोक्ति सिद्धान्त की उद्‌भावना की।

भामह एक प्रखर आलोचक थे। उन्होंने कालिदास की कृति मेघदूत में दोष की उद्‌भावना की है और उसे अननुकरणीय माना है।

भामह ने अलंकारों का ऊहापोह कर उन्हें सोदाहरण निरूपित किया है। भामह काव्य को सार्वभौमिक स्थान दिलाने में सफल समीक्षक हुए। उनका शब्दप्रयोग योग्यता का विवेचन भी अनुपमेय है।

इस प्रकार भामह सत्काव्य और सत्कवि के रसिक हैं क्योंकि वह ही चिरस्थायी साहित्य का निर्माण करते हैं जो पाठक को आनन्द विभोर करता है।

3. आचार्यदण्डी

दण्डी का काव्यशास्त्र के आचार्यों में प्रमुख स्थान है। भामह और दण्डी के पौर्वापर्य का निर्णय करना अत्यन्त कठिनतम कार्य है, फिर भी अधिकांश विद्वान् भामह के पश्चात् दण्डी का स्थान निरूपित करते हैं। दण्डी का काव्याशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्यादर्श' है जिसका स्थान अलंकारादि के निरूपण में अतुलनीय है।

अलंकारशास्त्र के कालक्रम में काव्यादर्श के रचयिता दण्डी का काल निर्धारण करना एक अत्यन्त कठिन समस्या है। दण्डी दाक्षिणात्य परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य हैं। दण्डी का सर्वप्रथम उल्लेख काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रतिहारेन्दुराज ने किया। वामन की 'काव्यलंकारसूत्रवृत्ति' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से परिचित थे। दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में अपने को महाकवि भारवि का प्रपौत्र बतलाया है और बाणभट्ट तथा मयूर कवि की प्रशंसा की है। बाणभट्ट का समय 606 ई. से 646 ई. निश्चित है अतः दण्डी बाणभट्ट के बाद हुए होंगे।

दण्डी रचित तीन ग्रन्थ प्रख्यात है **'त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च'**। इस आधार पर दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरी कथा तथा काव्यादर्श-दण्डी की रचनायें मानी जाती हैं। अलंकारशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ 'काव्यादर्श हैं। काव्यादर्श तीन परिच्छेदों में विभक्त है।

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, काव्यमार्ग तथा काव्यगुण एवं काव्यहेतु का मुख्य रूप से विवेचन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में अलंकार का सामान्य लक्षण करने के बाद 35 अलंकारों का लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं।

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में दण्डी ने 'यमक' अलंकार का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त चित्रालंकारों का भी वर्णन उपलब्ध है। इसी परिच्छेद में दशकाव्य दोषों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार प्रायः काव्यादर्श में काव्य के उन सभी तत्त्वों का सूक्ष्म दिवेचन किया गया है जो दण्डी के समय चर्चित थे।

काव्यादर्श पर अनेक टीकायें लिखी गई। सबसे प्राचीन टीका 'हृदयंगमा' है। अन्य टीकाओं में 'मार्जनी', 'काव्यतत्त्व-कौमुदी', 'श्रृतानुपालिनीं, 'रत्नश्री' प्रमुख हैं।

दण्डी का काव्यादर्श भामह के काव्यालंकार की अपेक्षा अधिक प्रचलित और पठित है। इसमें रीति, गुण, अलंकार का वर्णन प्रमुख रूप से हुआ है। काव्यादर्श की शैली सरल और सारगर्भित है। कवित्व शक्ति की दृष्टि से दण्डी का स्थान भामह से उच्च है। दण्डी के उदाहरण स्वरचित है। अलंकारों का प्रतिपादन नवीन तथ्यों से पूर्ण है।

काव्यशास्त्र को दण्डी की देन

आलंकारिकों में दण्डी का स्थान अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। गुण, रस, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति अलंकार, काव्यहेतु आदि अनेक तत्त्वों के सम्बन्ध में भामह और दण्डी में वैमत्य है। यह कहना कि कौन किससे प्रभावित है—सरल कार्य नहीं। दण्डी पर भरत की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। दण्डी ने भरत की भाँति दश दोषों और दश गुणों का ही विवेचन किया है। दण्डी ने वैदर्भ और गौडीयमार्ग के परस्पर सूक्ष्म भेद तथा उनका स्पष्ट उदाहरण देकर प्रतिपादित किया है। दण्डी का गुणों के प्रति विशेष आग्रह है और वे समाधि गुण को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हैं।

दण्डी शब्दनिष्ठ काव्य लक्षण प्रदान करते हैं—

इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम् (काव्यादर्श 1.10)

शब्दनिष्ठ परम्परा को स्वीकार कर विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और जगन्नाथ 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

काव्य का लक्षण प्रतिपादित करते हैं।

गद्य, पद्य और मिश्रकाव्य का निरूपण तथा सर्गबन्ध महाकाव्य का लक्षण तथा भाषा के आधार पर भेदोपभेद दण्डी का निरूपण प्रायः स्वीकृत है।

दण्डी काव्य के निर्मा में एकमात्र प्रतिभा को कारण नहीं मानते, अपितु, प्रतिभा, श्रुत और अभियोग—इन तीनों से काव्य निर्मित होता है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं कालसम्पदः।। (काव्यादर्श 1.103।।)

मम्मट ने इन्हें क्रमशः शक्ति, निपुणता और अभ्यास कहा है।

काव्यशोभाकर धर्मों को अलंकार कहा जाता है। दण्डी ने सर्वप्रथम अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है

'काव्यशेभाकरान् धर्मानलंकारात् प्रचक्षते'।

(काव्यादर्श 2.1)

काव्यशोभाकर धर्मों का संवर्धन निरन्तर होता रहता है। दण्डी का यह कथन अलंकारों की संख्या वृद्धि को सूचित करता है। नाट्यशास्त्र में जहाँ केवल चार ही (उपमा-रूपक-दीपक-यमक) अलंकारों का विवेचन किया है वहीं काव्यादर्श में पैंतीस अलंकारों का सोदाहरण विवेचन है।

दण्डी के पूर्व यमकालंकार का विस्तृत विवेचन अनुपलब्ध है। दण्डी ने यमक के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन सोदाहरण किया है।

काव्यादर्श में सर्वप्रथम 'चम्पूकाव्य' काव्य की एक भिन्न विधा स्वीकार की गई और उसका प्रथम लक्षण दण्डी द्वारा ही हुआ।

'गद्यपद्यमयी चम्पू' अर्थात् चम्पूकाव्य में गद्य और पद्य का समान रूप से प्रयोग होता है।

गुण काव्य के उपादेयधर्म हैं और दोषहेयधर्म हैं। अतः काव्य में अल्प भी दोष दण्डी को मान्य नहीं।

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथचनम्। (काव्यादर्श. 1.7)

गद्य काव्य का सर्वस्व समासबाहुल्य है—

'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवतम् (काव्यादर्श 1.80)

स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के आधार पर वाङ्मय का विभाजन किया गया

'भिन्नं द्विधास्वभावोक्ति— वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।। (काव्यादर्श. 2.363)

काव्यादर्श एक युगान्तरकारी अपूर्व रचना है। साम्प्रदायिक दृष्टि से दण्डी को अलंकारवादी आचार्य माना जाता है परन्तु रीति-विवेचन और गुणों का प्रतिपादन तथा वैदर्भी रीति में समस्त गुणों का समावेश दण्डी को रीति सिद्धान्त का पोषक आचार्य भी माना जा सकता है। शृंगारप्रकाश में भोज ने दण्डी को "महावाक्योपनिषदाचार्यः" कहा है।

4. भामह और दण्डी-साम्य वैषम्य

'काव्यालंकार' और 'काव्यादर्श' और 'काव्यादर्श' में निरूपित विषयों का साम्य, नामोल्लेख किये बिना एक दूसरे के मत का खण्डन, एक दूसरे की कृति में अनेक कारिकाओं की उपस्थिति से कौन किससे प्रभावित है अथवा कौन किसकी आलोचना कर रहा है—कहना अत्यन्त कठिन है। कुछ विद्वान् भामह को दण्डी के पूर्व, कुछ दण्डी को पूर्व तथा कुछ एक दूसरे ने समकालीन निरूपित करते हैं।

यह तो सर्वविदित सत्य है कि भामह और दण्डी, दोनों संस्कृत काव्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं। दोनों में प्राक्तन भामह ही प्रतीत होते हैं। दोनों की अनेक उक्तियों का असाधारण सादृश्य काव्यालंकार और काव्यादर्श में पाया जाता है। कुछ सादृश्य निम्न हैं।

1. "सर्गबन्धो महाकाव्यम्" (काव्यालंकार 1.19, काव्यादर्श 1.14)
2. "कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः" (काव्यालंकार 1.27, काव्यादर्श 1.29)

3. "तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्" (काव्यालंकार 3.53, काव्यादर्श 2.364)

4. "गतोऽस्तमर्को भारीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः" (काव्यालंकार 2.87, काव्यादर्श 2.244)

5. "आश्रेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना" (काव्यालंकार 2.66, काव्यादर्श 2.4)

6. "प्रेयो रसवदूर्जस्विपर्यायोक्तं समाहितम्" (काव्यालंकार 3.1, काव्यादर्श 2.5)

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से अलंकारादि के क्रमशः नामोल्लेख का सादृश्य अनेक विचारधाराओं को जन्म देता है। शब्दतः उल्लेखों के अतिरिक्त वैचारिक साम्यता भी अनेकत्र परिलक्षित होता है। आलोचना का स्वरूप भी दर्शनीय है।

1. प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्। (काव्यालंकार 5.3)

   विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्। (काव्यालंकार 3.127)

2. 'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः। (काव्यालंकार 2.86)

   'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौच वाचामुत्तमभूषणम्'। (काव्यादर्श 2.235)

3. स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते'। (काव्यालंकार 2.98)

   स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। (काव्यादर्श 2.8)

इस प्रकार भामह और दण्डी के कथनों में पर्याप्त साम्य तथा वैषम्य परिलक्षित होता है। सम्भवतः दोनों आचार्य किसी अन्य आचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थ से प्रभावित रहे हों, जो आज अनुपलब्ध हैं। भामह का पूर्व होना और उनके द्वारा मेधावी आचार्य का उल्लेख प्रमाणित करता है कि शायद भामह और दण्डी एक दूसरे की कृति से अपरिचित थे और दूसरे ही माध्यम-कृति को आधार बनाकर उससे ग्रहण और निराकरण किये हों। यही उपादेय मत है।

6

काव्य-शास्त्र के आचार्य : 800 ईस्वी से 900 ईस्वी तक

(1) उद्‌भट, (2) वामन, (3) रूद्र, (4) रूद्रभट्ट, (5) आनन्दवर्धन

1. उद्‌भट

संस्कृत अलंकारशास्त्र के आचार्यों में उद्‌भट का स्थान अलंकार चिन्तन में श्रेष्ठ है। उद्‌भट उद्‌भट विद्वान् और प्रखर चिन्तक तथा कवि थे। परवर्ती आचार्यों ने 'इति भट्टोद्‌भटाः' नाम से उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों, मान्यताओं का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। जिन आचार्यों ने उनके मत का खण्डन भी किया है वे भी उनके चिन्तन से प्रभावित परिलक्षित होते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन जैसा प्रखर आलोचक भी तत्रभवद्‌भिर्भट्टोद्‌भटादिभिः' कहकर आदरसहित उनका उल्लेख करते हैं। रुय्यक उन्हें 'चिरन्तनालंकारकाराः' तथा 'चिरन्तनैरलंकारतंत्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्‌भटप्रभृतिभिः' के नाम से उल्लेख करता है। सचमुच उद्‌भट प्रथम **'अलंकारतंत्रप्रजापति' है** क्योंकि उद्‌भट के पूर्व अलंकारों का ऐसा सुन्दर विवेचन नहीं हो पाया था। भट्ट उद्‌भट की प्रतिभा के समक्ष अलंकारचिन्तन में भामह दण्डी आदि आचार्य हतप्रभ से प्रतीत होते हैं।

उद्‌भट काश्मीरी आचार्य थे। वे कश्मीर के राजा जयादित्य की राजसभा के प्रमुख पण्डित थे। राजतरङ्गिणी के अनुसार उन्हें प्रतिदिन एकलाख दीनार मिलता था तथा वे सभापति पद पर प्रतिष्ठित विद्वान् थे—

'विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्‌भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः।। (राजत. 4.495)

जयापीड का शासनकाल 779 ई. से लेकर 813 ई. तक माना जाता है। अतः इस आधार पर उद्‌भट का समय आठवीं शती का अन्तिम तथा नौवीं शती का प्रारम्भिक काल माना जाता है।

कृतियाँ

उद्‌भट की एक ही कृति 'अलंकारसारसंग्रह' उपलब्ध है। इस अमरकृति पर प्रतिहारेन्दुराज की प्रौढ़ टीका प्राप्त है, जिसके आधार पर उद्‌भट की दो अन्य कृतियों का परिज्ञान होता है। भामह रचित 'काव्यालंकार' पर 'भामह विवरण' नाम से उद्‌भट ने टीका लिखी थी। अलंकारसारसंग्रह के सारे उदाहरण उद्‌भट रचित 'कुमारसंभव' नामक काव्य से दिये गये हैं। 'भामह विवरण, कुमारसंभव' और 'काव्यालंकारसारसंग्रह'—इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त उद्‌भट को नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार भी माना जाता है। संगीत रत्नाकर (1.9) में इसका उल्लेख है—

"व्याख्याकारे भारतीये लोल्लटोद्‌भटशंकुकाः"

परन्तु उद्‌भट रचित 'अलंकारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्राप्त है, अन्य नहीं।

'भामहविवरण' भामह के काव्यालंकार पर लिखी गई प्रथम टीका थी। प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों ने 'भामहविवरण' का उल्लेख किया है। यह एक श्रेष्ठ टीका थी।

कुमारसंभव नामक काव्य की रचना कालिदास रचित कुमारसंभव को आधार मानकर सम्पन्न हुई क्योंकि दोनों के कथानक तथा भावों में पर्याप्त साम्यंता है। जैसे—

'शोर्णवर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम्' (काव्यालं. 2.1)

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता पराहिकाष्ठा तपसस्तया पुनः' (कुमारसंभव 5.28)

'काव्यालंकारसारसंग्रह' 6 वर्गों में विभक्त उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर 79 कारिकायें तथा 41 अलंकारों का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

प्रथमवर्ग में पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास (प्रभेदसहित) रूपक, उपमा, दीपक और प्रतिवस्तूपमा—अलंकार परिगणित हैं।

द्वितीयवर्ग में आपेक्ष, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति का वर्णन है।

तृतीयवर्ग में यथासंख्य, उत्प्रेक्षा ओर स्वभावोक्ति-मात्र तीन अलंकार हैं।

चतुर्थवर्ग में प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वित पर्यायोक्त और समाहित हैं।

पंचमवर्ग में अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर और परिवृत्ति—कुल ग्यारह अलंकारों का विवेचन है।

षठवर्ग में अनन्वय, ससन्देह, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग और दृटान्त अलंकारों का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त अलंकारों में पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिंग, दृष्टान्त, संकर आदि ऐसे अलंकार हैं जिनकी उद्भावना का श्रेय उद्भट को ही है। भामह और दण्डी के ग्रन्थों में इन अलंकारों का निर्देश नहीं है। उद्भट ने अपनी प्रतिभा के आधार पर दण्डी निरूपित लेश, सूक्ष्म हेतु—अलंकारों का निराकरण किया है। इन अलंकारों की चर्चा काव्यालंकारसारसंग्रह में नहीं की गई। रसवदलंकारों का सुन्दर विवेचन उद्भट ने पहली बार किया। इसके पूर्व उनके लक्षण अस्पष्ट थे। अलंकारों के विवेचन में उद्भट प्रथम गणनीय आचार्य हैं।

उद्भट की अन्य अनेक मान्यतायें है जिनका खण्डन-मण्डन होता रहा। उद्भट अनुसार गुण और अलंकार में भेद नहीं है। गुणालंकार में अभेद का प्रतिपादन करने वाले उद्भट प्रथम आचार्य हैं। वास्तव में गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं है। यह तो 'भेड़चाल' है। किसी ने बिना विचार-विमर्श किये गुण और अलंकार के भेद का प्रतिपादन कर दिया उसी के आधार पर अन्धानुकरण प्रारम्भ हो गया। वस्तुतः दोनों में भेद नहीं

"समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः
ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः"।

मम्मटादि ने इसका खण्डन किया और दोनों में भेद सिद्ध किया। उद्भट के पूर्व अलंकारशास्त्र में केवल आठ रसों का प्रतिपादन नाटयशास्त्र के आधार पर हो रहा था। भरत, भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने शृंगारादि आठ ही रस स्वीकार करके, उनका निदर्शन कर रहे थे। उद्भट ने सर्वप्रथम 'शान्तरस' की स्वीकृति प्रदान की। शान्तरस की सत्ता काव्य में तो है ही नाट्य में भी वह प्रतिष्ठित है—

'शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साभुद्‌तशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः'
(काव्यालंकारसारसंग्रह 4.4)

अभिनेय काव्य में शान्तरस को स्थान दिलाना महनीय कार्य है।

इस प्रकार उद्भट संस्कृत अलंकारशास्त्र के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। अलंकारों के लक्षण स्पष्ट, सुबोध और उदाहरण तदनुकूल हैं। 'नवनाट्ये रसाः' उनकी अद्भुत देन है। उद्भट के कतिपय विशेष सिद्धान्तों का परिचय अन्य आचार्यों की कृतियों में उपलब्ध होता है। 'भामहविवरण' की प्राप्ति से उन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता। परन्तु जितना प्राप्त है उतने से ही उद्भट का अलंकार गवेषणा में प्रमुख स्थान है।

2. वामन

आचार्य उद्भट के पश्चात् वामन का स्थान आता है। काव्यशास्त्र में वामन का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वामन ने एक नये सिद्धान्त की उद्भावना कर उसका आद्योपान्त सांगोपांग विवेचन किया। वामन 'रीतिसिद्धान्त' के प्रवर्तक आचार्य हैं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का उद्घोष काव्यशास्त्र में वामन द्वारा सम्पन्न हुआ। काव्य की आत्मा 'रीति' है। आत्मतत्त्व विषयक गवेषणा वामन से प्रारम्भ होती है।

वामन काश्मीर के राजा जयादित्य की राजसभा के सदस्य थे। वामन उद्भट के समकालीन और जयादित्य के मंत्री थे। जयादित्य का समय 779 ई. से 813 ई. तक माना जाता है। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में इसका उल्लेख किया है—

'मनोरथः शंखदन्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।। (राज. 4.497)

अतः वामन का समय आठवी शती का अन्तिम भाग तथा नवीं शती का आरम्भिक भाग है।

वामन ने महाकवि भवभूति की रचनाओं से श्लोक उद्धृत किया है। भवभूति का समय 750 ई. है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में वामन के रीति विवेचन की आलोचना की है। अतः वामन नवमशती के प्रारम्भ में प्रख्यात आचार्य थे।

वामन कृत एकमात्र कृति "काव्यालंकारसूत्रवृत्ति" है। सूत्रशैली में लिखा गया यह अलंकारशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। सूत्रों

पर वृत्ति भी स्वयं वामन निर्मित है तथा वृत्ति के अनन्तर उदाहरण उपन्यस्त किये गये हैं। अतः इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण वामन का कथन है—

'प्रणम्यपरमं ज्योतिर्वामनेन कतिप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।

अर्थात् वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्रों के ऊपर 'कविप्रिया' नामक वृत्ति लिखी है। इस प्रकार सूत्र तथा वृत्ति भाग के रचयिता स्वयं वामन हैं। तीसरे स्थान पर प्राप्त उदाहरण अधिकांश रूप में पूर्ववर्ती कवियों से हैं। यत्र-तत्र वामन रचित उदाहरण भी उपन्यस्त हैं -

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैःपरकीयैश्चपुष्कलैः।

'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में पुनः विभाजित है। समग्र पुस्तक में कुल बारह अध्याय 'द्वादशाध्याय' हैं। सूत्रों की संख्या 319 है। वामन का यह विभाजन भी नवीन है क्योंकि उन्होंने अधिकरण के भीतर अध्याय रखा और अध्याय के आधार पर सूत्रवृत्ति प्रतिपादित करती हैं।

प्रथम शरीर नामक अधिकरण में काव्य का प्रयोजन, काव्यशिक्षा के अधिकारी काव्य की आत्मा— रीतिविकेश्चन और काव्य लक्षण तथा उसके प्रकार वर्णित हैं।

द्वितीय दोषदर्शन नामक अधिकरण में पद वाक्य तथा वाक्यार्थ-दोषों का निरूपण है।

तीसरा गुणविवेचन नामक अधिकरण है। इसमें गुण तथा अलंकारों में पारस्परिक भेद तथा शब्दार्थ विषयक दशगुणों के लक्षण तथा उदाहरण प्रतिपादित हैं।

चतुर्थ आलंकारिक नामक अधिकरण में यमक, अनुप्रास, उपमादि अलंकारों का निरूपण है।

पाँचवा प्रायोगिक नामक अधिकरण है। इसमें कवि-परम्परा का प्रतिपादन है। शब्द प्रयोग योग्यता का निरूपण भी इसी अधिकरण में है। व्याकरण की दृष्टि से शब्दशुद्धि विषयक चिन्तन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

वामन का काव्यशास्त्रीय नवीन चिन्तन

साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में वामन की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। परवर्ती आचार्यो ने 'वामनीयाः' लिखकर उनके मतों का उल्लेख किया है।

वामन का नाम रीतिसिद्धान्त से अन्योन्याश्रित है। उनके अनुसार—

'रीतिरात्मा काव्यस्य। 2.6
विशिष्टापदरचना रीतिः। 1.2.7
विशेषो गुणात्मा। 1.2.8
सा त्रिधा वैदर्भो गौडी पाञ्चाली चेतिः 1.2.9

उपर्युक्त चारों सूत्र वामन के रीति सिद्धान्त के आधार स्तम्भ हैं। यद्यपि रीति तत्त्व अत्यधिक प्राचीन है। तथापि उसे आत्मपद प्रतिष्ठित करने का श्रेय वामन को ही प्राप्त है। यह महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन ही उनके चिरस्थायी कीर्ति के लिए पर्याप्त है।

भामह और दण्डी ने केवल वैदर्भ और गौड मार्ग का ही प्रतिपादन किया। वामन ने पाञ्चाली रीति का विवेचन कर त्रिविध रीतियों की सत्ता प्रतिपादित की। पाञ्चाली का लक्षण एवं उदाहरण वामन की निजन्धरा है।

गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व माने जाते थे। इनके पार्थक्य का निर्देश वामन ने किया।

वामन के अनुसार—

सौन्दर्यमलंकारः। 1.1.2
काव्यशोभायाः। कर्त्तारो धर्माः गुणाः 3.1.1
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। 3.1.2

वामन के पूर्व तीन या दशगुण माने जाते थे। वामन ने दश शब्दगुण और दश अर्थ गुणों का सोदाहरण निरूपण किया।

बीस गुणों की उद्भावना का श्रेय वामन को है।

अलंकारों के निरूपण में वामन की मौलिकता स्पष्ट है। उपमा को मुख्य अलंकार माना है। अन्यों को उपमा का ही प्रपञ्च स्वीकार किया है।

काव्यहेतु के निरूपण में प्रतिभा को बीज तत्त्व सर्वप्रथम वामन ने उद्घोषित किया– कवित्वबीजं प्रतिभानम्। 1.3.16

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्. जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्. यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् (वृत्ति 1.3.16)

सत्काव्य का दृष्ट प्रयोजन प्रीति और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति है– काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थम्– प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्। 1.1.5

दृष्ट और अदृष्ट काव्य-प्रयोजन का विभाजन वामन की देन है। कीर्ति कामना से प्रेरित महाकवि चारूकाव्य का निर्माण करते है।

शब्दपाक, रूपक की श्रेष्ठता, दोषदृष्टि आदि अनेक तत्त्वों के चिन्तन में वामन का वैशिष्ट्य है। वक्रोक्ति, व्याजोक्ति और प्रतिवस्तूपमा अलंकार वामनोद्भावित अलंकार हैं। इससे उनकी प्रखर प्रतिभा का तथा नवीन तत्त्वोन्मेषी शेमुषी का परिचय मिलता है। वामन ने कान्तिनामक गुण के अन्तर्गत रस को रखकर उसे भामहादि की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इस प्रकार वामन प्रखर चिन्तक और सहृदय थे।

'काव्यालंकारसूत्रवृति' पर अनेक आचार्यों ने टीकायें लिखीं। सर्वप्रसिद्ध टीका गोपेन्द्रतिप्पभूपाल की 'कामधेनु' नामक टीका है। 'साहित्यसर्वस्व' नाम से महेश्वर की भी टीका है।

"वामन के रीति सिद्धान्त के लिए रीतिसिद्धान्त अध्याय' पढ़िए"।

(3) रुद्रट

आचार्य रुद्रट की ख्याति अलंकारशास्त्र के इतिहास में अत्यधिक है। ये प्रसिद्धतम आचार्यों में से एक हैं। अलंकार के वैज्ञानिक वर्गीकरण का श्रेय रुद्रट को है।

रुद्रट काश्मीरी आचार्य थे, जैसा कि नाम से प्रतीत होता है। रुद्रट का दूसरा नाम शतानन्द था तथा वे वामुकभट्ट के पुत्र थे। यह सूचना रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु से मिलती है–

'शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता मतम्।।'

रुद्रट के मत का सर्वप्रथम उल्लेख राजशेखर ने काव्यमीमांसा में 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः" (का. मी. अध्याय 7), किया है। इसके अनन्तर धनिक, मम्मट,प्रतिहारेन्दुराज आदि आचार्यों ने रुद्रट का उल्लेख किया है। राजखेशर का समय 920 ई. है अतः रुद्रट नवम शती के मध्य में हुए होंगे।

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक आचार्य कश्मीरी हैं और इन सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नाम 'काव्यालंकार' ही रखा है। रुद्रट कृत एकमात्र ग्रंथ **काव्यालंकार** प्राप्त है। यह ग्रंथ सोलह अध्यायों में विभाजित है। इन अध्यायों में काव्यशास्त्र के सभी तत्त्वों का विवेचन मिलता है। कुछ स्थलों को छोड़कर यह ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है। रुद्रट को आर्याच्छन्द प्रिय है अतः इन्हें 'आर्यानुरागी' कहा जाता है।

"आर्यानुरागी सर्वज्ञः सत्यरुद्रः स रुद्रटः"।

काव्यालंकार के सभी उदाहरण रुद्रट रचित हैं' इसके श्लोकों की संख्या 734 है। तेरहवाँ अध्याय लघुतम है। अध्याय के अनुसार विवेचन इस प्रकार है

1. गणेश और गौरी की वन्दना, काव्य का उद्देश्य तथा प्रयोजन एवं काव्यहेतु निरूपण।
2. काव्य-लक्षण, पाँच शब्दालंकारों का वर्णन चार रीतियों तथा पाँच वृत्तियों का विवेचन।
3. यमक अलंकार का विस्तृत विवेचन।
4. श्लेष अलंकार।

5. चित्रकाव्य का निरूपण।
6. शब्ददोष निरूपण।
7. अर्थालंकारों के चार मुख्य आधार—वास्तव-औपम्य, अतिशय-श्लेष तथा वास्तव अलंकारों के लक्षणोदाहरण।
8. औपम्य पर आधारित 21 अलंकार।
9. अतिशय पर आधारित 12 अलंकार।
10. शुद्धश्लेष निरूपण तथा संकर अलंकार।
11. नौ अर्थदोष तथा उपमादोष।
12. दशरस निरूपण, नायकगुण कथन।
13. सम्भोग शृंगार और नायिका वर्णन।
14. विप्रलम्भ शृंगार तथा नायिका प्रसादनोपाय।
15. वीर रस।
16. काव्य के विविध प्रकारों का निरूपण।

उपर्युक्त अध्यायानुक्रमणिका के आधार पर यह स्पष्ट आभासित है कि रुद्रट ने प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन करने का स्तुत्य कार्य किया।

रुद्रट के **काव्यालंकार** पर श्वेताम्बर जैन नमिसाधु रचित टीका अत्यधिक प्रख्यात और प्रौढ़ टीका है। यह पाण्डित्यपूर्ण टीका है और इसमें अनेक आलंकारिकों के मान्य सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है।

रुद्रट के चिन्तन की विशेषताएँ

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अलंकारों की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत की है। इस वैज्ञानिक वर्गीकरण के चार आधार हैं। 1. वास्तव्य 2. औपम्य 3. अतिशय 4. श्लेष—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषात।

(काव्यालंकार, 7.9)

इस वर्गीकरण के आधार पर ही अलंकारों का विवेचन हुआ है, फलस्वरूप एक ही अलंकार अनेक बार निरूपित है। जैसे उत्प्रेक्षालंकार के औपम्य ओर अतिशय पर आश्रित दो भेद स्वीकृत हैं।

रुद्रट ने स्वभावोक्ति के स्थान पर जाति, व्याजस्तुति के स्थान पर व्याजश्लेष शब्दों का प्रयोग किया है। अलंकारों की पृष्ठभूमि में कवि विवक्षा का प्राधान्य होता है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उद्भावना रुद्रट ने अलंकारों के निरूपण में की है। रुद्रट के अनुसार सत्कवि काव्य में निष्प्रयोजन अलंकारों का प्रयोग नहीं करते।

रुद्रट कृत दोष विवेचन भी महत्त्वपूर्ण ग्राम्यत्व तथा 'विरस' दोषों से कवि को सतत् सावधान रहना चाहिये। ग्राम्यत्व माधुर्य गुण का विरोधी है। रस का अनपेक्षित विस्तार 'विरस' है जो औचित्य का विरोधी है। आनन्दवर्धन ने भी अनौचित्य को रसभंग का कारण माना है।

भामह, दण्डी आदि की अपेक्षा रुद्रट का रस विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में पहली बार रस का स्वतंत्र चिन्तन, विवेचन और भेदोपभेद प्रतिपादन हुआ। काव्य निरन्तर रसयुक्त होना चाहिये। नीरस शास्त्रों से लोग ऊब जाते हैं और उनकी प्रवृत्ति सरस काव्य की ओर होती है—

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यः ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः।।
तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

(काव्यालंकार, 12.1.2)

रुद्रट शान्त और प्रयान को मिलाकर कुल दस रसों का विवेचन करते हैं। प्रेयांन् रस प्रथम बार निरूपित हुआ है। अतः

यह रुद्रट की विशेष मौलिक देन है।

रुद्रट ने रीतियों को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया और वामन प्रतिपादित वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली रीति के अतिरिक्त एक अन्य चौथी रीति लाटी का भी विवेचन किया।

कवि, अविरल कीर्ति की प्राप्ति के लिए समस्त लोकादि प्रवृति को जानकर, काव्य का निर्माण करें और उसे रसयुक्त बनाये अन्यथा वह भी शास्त्र के समान शुष्क प्रतीत होगा।

(4) रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट की एकमात्र रचना का नाम 'शृंगारतिलक' है। यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में शृंगारादि नौ रसों, भावों तथा नायक नायिकाओं के भेदों का सामान्य वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में विशेष रूप से विप्रलम्भ शृंगार की विस्तृत विवेचना है तथा तृतीय परिच्छेद में अन्य रसों और वृतियों का वर्णन किया गया है।

रुद्रभट्ट का कथन है कि काव्य सम्बन्धी रसों का निरूपण उनकी कृति का प्रयोजन है—

'प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते।।

भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों का काव्य-सन्दर्भ में विवेचन हुआ।

शृंगारतिलक के उदाहरण सम्भवतः रुद्रभट्ट निर्मित हैं।

यह ग्रन्थ विशेष रूप से चर्चित इसलिये हुआ 'क्योंकि रुद्रट और रुद्रभट्ट के नाम में अत्यधिक साम्य है तथा विषय विवेचन भी एक दूसरे से मिलता है, अतः कुछ विद्वान् शृंगारतिलक को रुद्रट की ही रचना मानने लगे, परन्तु अधिकांश विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं और दोनों का पार्थक्य प्रमाणित करते हैं। पार्थक्य का आधार दोनों का विषय विवेचन है।

यदि 'काव्यालंकार' (रुद्रट) और 'शृंगारतिलक' का रचयिता एक होता तो काव्यालंकार के पश्चात् उसे लिखने की क्यों आवश्यकता हुई, जबकि दोनों का विषय एक सा ही है।

विषयगत भिन्नता दोनों ग्रन्थकारों की भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित करती है

1. शृंगारतिलक में केवल नौ रसों का प्रतिपादन किया गया है, जबकि काव्यालंकार (रुद्रट) में प्रेयान् नामक दसवें रस की स्थापना कर दसरसों का विवेचन है।
2. शृंगारतिलक में चार वृत्तियों (भारती-सात्त्वती-आरभटी-कैशिकी) का विवेचन किया गया है जबकि काव्यालंकार में पाँच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का विवेचन है।
3. इसी प्रकार नायिका भेदोपभेदों के वर्णन में वैषम्य पाया जाता है। अतः काव्यालंकार और शृंगारतिलक के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

इन दोनों आचार्यों के काल में भी पर्याप्त अन्तर है। शृंगारतिलक का उल्लेख काव्यानुशासन के निर्माता हेमचन्द्र द्वारा पहली बार हुआ है। रुद्रट का समय नवम शताब्दी तथा रुद्रभट्ट का समय दशम शताब्दी के पूर्व कथमपि नहीं सिद्ध होता। अतः दोनों भिन्न आचार्य हैं।

(5) आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन उच्चकोटि के कवि और आचार्य दोनों थे। उनमें कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा का अपूर्व संयोग था। संस्कृत काव्यशास्त्र के वे मूर्धन्य आचार्य हैं। आनन्दवर्धन ध्वनिसिद्धान्त के उद्भावक और प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। 'काव्यशास्त्र सम्बन्धी एकमात्र कृति 'ध्वन्यालोक' है। 'काव्यशास्त्र के इतिहास में यह ग्रन्थ युगप्रवर्तक सिद्ध हुआ है। काव्यशास्त्र के इतिहास में इसका वही स्थान है जो व्याकरणशास्त्र में पाणिनि रचित 'अष्टाध्यायी' का तथा दर्शनशास्त्र में 'वेदान्त सूत्र' का।' ग्रन्थ में आद्योपान्त प्रखर पाण्डित्य और सूक्ष्म विवेचनात्मक दृष्टि प्रकट होती है। ध्वन्यालोक की शैली अत्यधिक प्राञ्जल तथा भावपूर्ण है। प्रत्येक विवेचन में उनकी मौलिकता प्रकट होती है। परवर्ती काल के आचार्यों को आनन्दवर्धन का चिन्तन अत्यधिक ग्रहणीय हुआ। आनन्दवर्धन को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाता है—

'ध्वनिकृतामालंकारिकसरणि व्यवस्थापकत्वात्' (रसगंगाधर)

राजशेखर के अनुसार अत्यधिक गंभीर तत्त्व ध्वनि का निरूपण करने वाले आनन्दवर्धन सभी के आनन्दवर्धन सिद्ध हुए—

'ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेषिणा।
आनन्दवर्धनः करय नारीदानन्दवर्धनः।।

आनन्दवर्धन कश्मीर निवासी आचार्य थे। उनके समय का निर्धारण सुगम है। कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डितों में आचार्य आनन्दवर्धन एक अन्यतम प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। कल्हण के अनुसार अवन्तिवर्मा का समय 855 ई. से 883 ई. माना जाता है। उनका यह निर्देश मान्य और प्रामाणिक है–

'मुक्ताकणः शिवरवामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।
(राजतरंगिणी–5.4)

नवम् शती के अन्त में विद्यमान राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। अतः आनन्दवर्धन का समय नवम् शताब्दी का उत्तरार्ध भाग निश्चित है। कृती आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्त्व की गवेषणा और व्यञ्जनाशक्ति की उद्भावना कर साहित्यशास्त्र में एक नये युग का प्रारम्भ किया। साहित्य चर्चा का चरमोत्कर्ष भी इसी समय हुआ, जिसमें आनन्दवर्धन का अवदान सर्वोपरि है। इसीलिए काव्यप्रकाश की टीका में विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन को 'काव्यपुरुषावतार' कहा है।

कृतियाँ

आनन्दवर्धन रचित अनेक कृतियाँ हैं। इन कृतियों से उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ज्ञान होता है

1. देवीशतक–स्तुतिकाव्य
2. विषमबाणलीला–प्राकृतकाव्य
3. अर्जुनचरित–महाकाव्य
4. तत्त्वालोक–दार्शनिक ग्रन्थ
5. ध्वन्यालोक–काव्यशास्त्र का ग्रन्थ।

आनन्दवर्धन की सर्वश्रेष्ठ और प्रख्यात रचना ध्वन्यालोक है। आनन्दवर्धन की कीर्ति की यही आधारशिला है। ध्वन्यालोक एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका महत्त्व अक्षुण्ण है।

ध्वन्यालोक में चार 'उद्योत' हैं। प्रथम उद्योत में नरसिंहावतार की स्तुति है। इसके बाद 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' प्रतिज्ञावाक्य की स्थापना, ध्वनितत्त्व को न मानने वाले आचार्यों का कथन, ध्वनिलक्षण और ध्वनिविरोधी मतों का खण्डन किया गया है। 'सहृदयमनःप्रीति' ही ध्वनि का स्वरूप है–इस तत्त्व की निर्भान्त स्थापना प्रथम उद्योत में है।

द्वितीय उद्योत में लक्षणामूलाध्वनि (अविवक्षितान्यपरवाच्य) तथा अभिधामूलाध्वनि (विवक्षितान्यपरवाच्य) के भेदोपभेदों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। इसी उद्योत में गुणालंकार विवेक, रसध्वनि में अलंकारों की उपयोगिता का भी प्रतिपादन है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

तृतीय उद्योत में वर्ण-पद-पदांश-वाक्य-रचना और प्रबन्ध के आधार पर ध्वनि का विवेचन तथा रसों के विरोधाविरोध का सम्यक् निरूपण है।

चतुर्थ उद्योत में यह बतलाया गया है कि कवि प्रतिभा अनन्त होती है और वह उसी के आधार पर कवि अचेतन को चेतनवत् व्यवहार कराने में समर्थ होता है। ध्वनि तत्त्व का आश्रय लेकर कवि अनन्त चमत्कार की उत्पत्ति करता है, जैसे मधुमास के आने से नीरस तरु पुनः पुष्पित हो जाते हैं; चतुर्दिक सौन्दर्य छा जाता है, उसी प्रकार ध्वनि तथा रस के सम्बन्ध से पूर्वकवि वर्णित अर्थों में भी नवीन चमत्कार उत्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना तथा पूर्ववर्णित सभी तत्त्वों का–रस, अलंकार, रीति-गुण-वृत्ति, यथास्थान स्थापित करना ही आनन्दवर्धन का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है और उन्हें अपने प्रयोजन में पूर्ण सफलता मिली है।

ध्वन्यालोक में तीन भाग हैं। प्रथम कारिका भाग, द्वितीय कारिकाओं पर वृत्ति और तृतीय भाग में उदाहरण उपन्यस्त हैं। कारिकाकार और वृत्तिकार–दोनों एक हैं अथवा दोनों के लेखक भिन्न हैं–इस विषय पर विद्वानों की अलग-अलग धारणायें हैं। कुछ विद्वान्, कारिकाओं के निर्माता 'सहृदय' नामक व्यक्ति को मानते हैं। इनके अनुसार वृत्ति भाग के रचयिता आनन्दवर्धन हैं। इस मत का प्रबलतम आधार ध्वन्यालोक की प्रथमकारिका

'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्'

विचारक आदि के अतिरिक्त उनका भक्तहृदय कभी कभी मुखर हो उठता है, तो ऐसा लगता है जैसे अन्तःसलिला सरस्वती का सम्मेलन है। उनका कथन है कि विश्व का, कवि और दार्शनिक दृष्टि से वर्णन करते करते कुछ प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु हे अब्धिशयन ! आपकी भक्ति का सुख अनुपम है—

'ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।।

आनन्दवर्धन महान् दर्शनिक भी थे। वे अनेकत्र परमपुरुषार्थ की चर्चा करते है। मुख्यतः वे भक्तिमार्गी हैं। दार्शनिक क्षेत्र में वे मीमांसा, वेदान्तादि से पूर्ण अवगत हैं। व्याकरण को वे प्रथम दर्शन स्वीकार करते हैं। उनका 'तत्त्वालोक' इसका परिचायक है कि वे दर्शनशास्त्री थे।

इस प्रकार आनन्दवर्धन एक श्रेष्ठ कवि, महान् दार्शनिक और प्रखर काव्य चिन्तक आचार्य थे। उनका स्वभाव सरल और मधुर प्रतीत होता है। पूर्वपक्षों का उपस्थापन अथवा उनका खण्डन करते समय भी वे शिष्ट और अतीव सन्तुलित दिखाई पड़ते हैं। कहीं भी विरोधियों के प्रति उनका आक्रोश परिलक्षित नहीं होता। हाँ विरोधियों की ओर से अपने को भले ही अपशब्दों से युक्त कर लेते हैं—यथा

'काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितं। मिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडः।।

इस प्रकार वे कटुतापूर्ण प्रहार सहते हैं, उसका प्रतिरोध नहीं करते। अतः आनन्दवर्धन का व्यक्तित्व विशाल रत्नाकर की भाँति प्रतीत होता है।

ध्वन्यालोक के टीकाकार

ध्वन्यालोक पर दो टीकाओं का पता चलता है, जिसमे एक उपलब्ध है तथा एक का मात्र उल्लेख मिलता है।

अभिनवगुप्ताचार्य रचित 'लोचन' ध्वन्यालोक पर प्रख्यात टीका है। लोचन का पूरा नाम 'काव्यालोकलोचन' है। लोचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'ध्वन्यालोक' यदि एक आलोक है तो लोचन, लोचन है, जिसके विना आलोक का साक्षात्कार सम्भव नहीं है—

'किं लोचनं विनाऽऽलोको भाति'

'ध्वन्यालोक के अध्ययन में लोचन का वही स्थान है जो वेदान्तसूत्रों के अध्ययन में शारीरिक भाष्य का अथवा अष्टाध्यायीमें व्याकरणमहाभाष्य का।' अष्टाध्यायी का यथार्थ अर्थ महाभाष्य के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। इससे लोचन का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

दूसरी टीका 'चन्द्रिका' थी। 'चन्द्रिका' अभिनवगुप्त के पूर्व ध्वन्यालोक पर उत्तम टीका थी। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में चन्द्रिका टीका का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने उसका अनेकत्र उल्लेख किया है।

लोचनकार ने लिखा है—

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि
अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।

और अन्तिम कारिका—

'सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त—
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां पदासीत्।
तद् व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।।

में प्रयुक्त 'सहृदय' पद है। "सहृदय-लाभहेतोः" कथन प्रमाणित करता है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' था। परन्तु 'सहृदय' पद व्यक्तिबोधक इन स्थलों पर नहीं है अपितु सहृदय पद सामान्य व्यक्ति सचेतस्, विदग्ध, काव्यरस-रसिक का बोधक है।

द्वितीय प्रमाण अभिनवगुप्त रचित 'ध्वन्यालोकलोचन' से प्रस्तुत किया जाता है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' टीका में स्थान-स्थान पर 'वृत्तिकृत्' 'ग्रन्थकृत!' आदि पदों का प्रयोग किया है। अतः व्याख्या भाग और कारिका भाग के कर्ता भिन्न हैं परन्तु यहाँ भी यह अभिप्राय कथमपि नहीं है कि वृत्तिकार और कारिकाकार अलग-अलग हैं। स्वेच्छा से अवसरानुकूल ही ऐसा उल्लेख है।

प्राचीन सभी आचार्य कारिका भाग तथा वृत्ति भाग दोनों के निर्माता आनन्दवर्धन को ही मानते हैं। कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि प्रख्यात काव्यतत्त्वविदों ने आनन्दवर्धन को ही कारिका और वृत्ति का निर्माता माना हैं।

आनन्दवर्धन स्वयं सूरियों से प्रार्थना करते हैं कि ध्वनितत्त्व उनके द्वारा प्रवर्तित हुआ है। 'अस्मदुपज्ञः' का कथन ही दोनों को अभिन्न प्रमाणित करता है—

'इति काव्यार्थविवेको योऽ
यं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारै—
रस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः।।

अतः कारिका और वृत्ति आनन्दवर्धन द्वारा ही रचित हैं।

आनन्दवर्धन का व्यक्तित्व

आनन्दवर्धन महान् सरसचेता आचार्य थे। प्रतिपक्षी के मतों का खण्डन करते समय भी वे अत्यधिक संयत और उदारमना महनीय व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते हैं। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का अद्भुत परिचय ध्वन्यालोक में उपलब्ध होता है। ध्वन्यालोक के अधिकांश उदाहरण व्यास, बाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों के हैं, परन्तु कतिपय उदाहरण स्वनिर्मित भी प्रस्तुत किये गये हैं। इन उदाहरणों में आनन्दवर्धन का कविकर्म, उनकी सरल, सरस, व्यंग्यार्थसम्पन्न शैली अनुपमेय प्रतीत होती है। वे कारयित्री प्रतिभा के धनी उत्तम कवि हैं—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः।।

इसका भावार्थ यह है। कि एक अपूर्व सुन्दरी समुद्र के तट पर खड़ी है और समुद्र में किसी प्रकार का क्षोभ (हलचल) नहीं उत्पन्न हो रहा है तो कवि समुद्र को 'जडराशि' कहता है। जलराशि और जडराशि (डलयोरभेदः) का चमत्कार सहृदयहृदयगम्य है। अन्य पद 'तरलायताक्षि' भी चमत्कारकारक है।

आनन्दवर्धन जिस प्रकार संस्कृत भाषा में काव्य-निर्माण-दक्ष थे उसी प्रकार 'प्राकृतभाषा' मे पारंगत थे। ध्वन्यालोक में अनेक पद्य प्राकृतभाषा के प्रयुक्त हैं, उनमें कुछ आनन्दवर्धन रचित हैं। कविकर्म का उज्ज्वल परिपाक आनन्दवर्धन में उपलब्ध है। प्राकृत पद्यों में निहित काव्य-सौन्दर्य का प्रस्फुटीकरण काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पहली बार आनन्दवर्धन के द्वारा ही हुआ है। 'देवीशतक' उनका प्रसिद्ध चित्रकाव्य है।

विश्वसाहित्य में, काव्य-समीक्षा के सन्दर्भ में 'ध्वन्यालोक' का अप्रतिम स्थान है, जो उनके आचार्यत्व को स्थापित करता है। सर्वथा नवीन 'ध्वनितत्त्व' की उद्भावना का मौलिक श्रेय आनन्दवर्धन को है। प्रमातृपक्ष का उन्मेष, व्यञ्जना वृत्ति की उद्भावना और रसप्रतीति का एकमात्र उपाय व्यञ्जना वृत्ति प्रमाणित करना आदि आनन्दवर्धन की अगाध तत्त्वोन्मेषी वैपश्चिती के परिचायक हैं। आचार्यत्व के साथ ही साथ उनके हृदय में रसवन्ती धारा का अपार प्रवाह मिलता है। कवि, चिन्तक,

विचारक आदि के अतिरिक्त उनका भक्तहृदय कभी कभी मुखर हो उठता है, तो ऐसा लगता है जैसे अन्तःसलिला सरस्वती का सम्मेलन है। उनका कथन है कि विश्व का, कवि और दार्शनिक दृष्टि से वर्णन करते करते कुछ प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु हे अब्धिशयन ! आपकी भक्ति का सुख अनुपम है—

'ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।।

आनन्दवर्धन महान् दर्शनिक भी थे। वे अनेकत्र परमपुरुषार्थ की चर्चा करते है। मुख्यतः वे भक्तिमार्गी हैं। दार्शनिक क्षेत्र में वे मीमांसा, वेदान्तादि से पूर्ण अवगत हैं। व्याकरण को वे प्रथम दर्शन स्वीकार करते हैं। उनका 'तत्त्वालोक' इसका परिचायक है कि वे दर्शनशास्त्री थे।

इस प्रकार आनन्दवर्धन एक श्रेष्ठ कवि, महान् दार्शनिक और प्रखर काव्य चिन्तक आचार्य थे। उनका स्वभाव सरल और मधुर प्रतीत होता है। पूर्वपक्षों का उपस्थापन अथवा उनका खण्डन करते समय भी वे शिष्ट और अतीव सन्तुलित दिखाई पड़ते हैं। कहीं भी विरोधियों के प्रति उनका आक्रोश परिलक्षित नहीं होता। हाँ विरोधियों की ओर से अपने को भले ही अपशब्दों से युक्त कर लेते हैं—यथा

'काव्यं तद्ध्वनिना समन्वित। मिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडः।।

इस प्रकार वे कटुतापूर्ण प्रहार सहते हैं, उसका प्रतिरोध नहीं करते। अतः आनन्दवर्धन का व्यक्तित्व विशाल रत्नाकर की भाँति प्रतीत होता है।

ध्वन्यालोक के टीकाकार

ध्वन्यालोक पर दो टीकाओं का पता चलता है, जिसमें एक उपलब्ध है तथा एक का मात्र उल्लेख मिलता है।

अभिनवगुप्ताचार्य रचित 'लोचन' ध्वन्यालोक पर प्रख्यात टीका है। लोचन का पूरा नाम 'काव्यालोकलोचन' है। लोचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'ध्वन्यालोक' यदि एक आलोक है तो लोचन, लोचन है, जिसके विना आलोक का साक्षात्कार सम्भव नहीं है—

'किं लोचनं विनाऽऽलोको भाति'

'ध्वन्यालोक के अध्ययन में लोचन का वही स्थान है जो वेदान्तसूत्रों के अध्ययन में शारीरिक भाष्य का अथवा अष्टाध्यायीमें व्याकरणमहाभाष्य का।' अष्टाध्यायी का यथार्थ अर्थ महाभाष्य के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। इससे लोचन का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

दूसरी टीका 'चन्द्रिका' थी। 'चन्द्रिका' अभिनवगुप्त के पूर्व ध्वन्यालोक पर उत्तम टीका थी। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में चन्द्रिका टीका का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने इसका अनेकत्र उल्लेख किया है।

लोचनकार ने लिखा है—

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि
अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यघात्।

900 ईस्वी से 1100 ईस्वी तक

(1) राजशेखर, (2) मुकुल भट्ट, (3) भट्टतौत, (4) भट्टनायक, (5) कुन्तक, (6) अभिनवगुप्तवाद, (8) धनन्जय

1. राजशेखर

काव्यशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक तथा प्रसिद्ध नाटककार राजशेखर विदर्भवासी आचार्य हैं। दण्डी को छोड़कर काव्यशास्त्र के चिन्तन का केन्द्र स्थान काश्मीर था। राजशेखर दण्डी के अनन्तर द्वितीय अद्वितीय महिमामण्डित आचार्य हैं। राजशेखर राजाश्रित महाकवि थे। कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल और महिपाल के राजसभा में प्रतिष्ठित कवि और आचार्य थे। 'बाल रामायण' नामक नाटक के अनुसार महेन्द्रपाल राजशेखर के शिष्य थे–

'देवो यस्य महेन्द्रपालनृपिः शिष्यो रघुग्रामणीः" (बा.रा. 118)

राजशेखर ने स्वयं को 'यायावरीयः' अर्थात् 'यायावर' वंश में उत्पन्न निरूपित करते हैं। ये 'अकालजदल' के पौत्र, 'दुर्दुक' के पुत्र तथा पत्नी 'अवन्तिसुन्दरी' थी। कवित्वशक्ति तथा शास्त्रीय प्रतिभा वंशानुगत थी। 'काव्यमीमांसा' में पत्नी के साहित्यशास्त्रीय मतों का भी निर्देश मिलता है। राजशेखर ने अनेक कृतियों में अपना उल्लेख किया है। इनका समय 880 ई. से 920 ई. तक माना जाता है।

कृतियाँ

राजशेखर की पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं। 1. 'बालरामायण' 2. 'बालभारत' 3. 'विद्धशालभञ्जिका' 4. 'कर्पूरमंजरी' तथा 5. अन्तिम साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है। प्रारम्भ की कृतियों का सम्बन्ध राजशेखर की कारयित्री प्रतिभा से है तो 'काव्यमीमांसा' आचार्य की प्रभूत भावयित्री प्रतिभा का चरम निर्दशन है।

काव्यमीमांसा

साहित्य समीक्षा से सम्बन्धित 'काव्यमीमांसा' एक विलक्षण ग्रन्थ है। इसको साहित्यशास्त्र में गौरवमय स्थान प्राप्त है। इस रचना में रस, गुण अथवा अलंकारों का विवेचन प्रतिपाद्य नहीं है अपितु इनके स्थान पर कवियों के लिए व्यवहारोपयोगी तथा अनेक मार्गदर्शक सूचनायें प्राप्त होती हैं। मुख्य रूप से 'काव्यमीमांसा' कविशिक्षा का ग्रन्थ है। इसके वर्ण्यविषय की संक्षिप्त रूपरेखा निम्न प्रकार है–

काव्यमीमांसा अठारह अध्यायों में विभाजित है।

प्रथम अध्याय का नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। इसमें काव्यमीमांसा की परम्परा का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मा से प्रारम्भ गुरु-शिष्य परम्परा से अलग-अलग आचार्यों ने अलग–अलग ग्रन्थों की रचना कर, उसे अति विपुलरूप प्रदान किया। इस गुरुपर्वक्रमणिका में शास्त्र की उपयोगिता वर्णित है इसमें अनेक तथ्य ऐसे हैं जिनका अन्यत्र निर्देश नहीं मिलता।

'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः इत्यादि। (काव्यमीमांसा)

अनेक आचार्य ऐसे हैं जिनका उल्लेख यहीं पर प्राप्त है, अन्यत्र नहीं। 'शास्त्र निर्देश' नामक द्वितीय अध्याय में 'शास्त्र' और 'काव्य'–दो प्रकार से वाङ्मय का विभाजन है। प्रथम के अन्तर्गत पौरुषेय और अपौरुषेय है। 4 वेद, 4, उपवेद तथा 6 वेदाङ्ग अपौरुषेय हैं। राजशेखर के अनुसार अलंकार सातवाँ वेदाङ्ग है–

'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः।

तीसरे अध्याय में 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' का वर्णन है। 'शब्दार्थ शरीर है, संस्कृत मुख है–रस आत्मा है।

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतः बाहुः –––। उक्तिचणं च ते वचो रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि अनुप्रासोपमादयः त्वामलङ्कुर्वन्ति"।

साहित्यविद्यावधू के साथ 'वत्सगुल्म नगर में काव्यपुरुष के विवाह का वर्णन भी है।

चतुर्थ अध्याय 'पदवाक्यविवेक' है। यायावरीय के अनुसार शक्ति ही काव्य का हेतु है— 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः।

काव्यमीमांसा के अन्य अध्यायों में क्रमशः काव्यपादकल्प, पदवाक्यविवेक, पादप्रतिष्ठा, काव्यार्थयोनि, अर्थव्याप्ति तथा कविचर्या और राजचर्या का वर्णन है। ग्यारहवें से तेरहवें तक पूर्ववर्ती कवियों के अभिप्राय को नवीन कवि किस प्रकार ग्रहण कर सकता है, वर्णित है। चौदह से सोलहवें तक देश, काल, प्रकृति आदि के कवि समय का उल्लेख है। सत्रहवें में देश विभाग और अठारहवें में काल विभाग का वर्णन उपलब्ध है।

इस अति संक्षिप्त रूपरेखा से प्रतीत होता है कि यह कवि शिक्षा विषयक विश्वकोष सा ग्रंथ है। इसीलिए राजशेखर से काव्यशास्त्र में 'कविशिक्षार्थ' विषय प्रतिपादित होने लगा और परवर्ती काल में अनेक आचार्यो ने कवि शिक्षा पर स्वतंत्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। 'कविशिक्षासम्प्रदाय' के प्रवर्तक के रूप में राजशेखर की ख्याति है।

राजशेखर 'गुणयुक्त अलंकृत वाक्य काव्य है'—गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्'

राजशेखर के अनुसार शास्त्रों में 'स्वरूपनिबन्धन' होता है और काव्य में 'प्रतिभासनिबन्धन' होता है। इसीलिए जहाँ शास्त्रों में नभ का रंगहीन वर्णन है वहीं काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के आधार पर 'असिश्याम' नीलकमलाभ' आदि निबन्धित करता है।

कोई पदार्थ सरस अथवा नीरस नहीं होता। कवि वचनों से उसमें सरसता और नीरसता उत्पन्न होती है। 'काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः''

कवि के मति–दर्पण में विश्व प्रतिबिम्ब होता है। मतिदर्पणेकवीनां विश्वं प्रतिफलति'।

राजशेखर अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार मानता है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।

(2) मुकुलभट्ट

भट्टकल्लट के पुत्र मुकुलभट्ट स्वतंत्र रूप से वृत्तिविमर्श करने वाले प्रथम आचार्य हैं। कल्लटभट्ट, राजतरंगिणी के अनुसार अवन्तिवर्मा के समकालीन थे (राज. त. 5.56) अतः अवन्तिवर्मा (855-884 ई.) के कुछ समय बाद मुकुलभट्ट का समय नवमशती का अन्तिम भाग है।

मुकुलभट्ट की एकमात्र कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' है और इसका इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि काव्यशास्त्र के इतिहास में वृत्ति-विवेचनात्मक प्रथम ग्रन्थ है। इसमें कुल 15 कारिकाएँ हैं जिन पर आचार्य की स्वयं वृत्ति है।

मुकुलभट्ट मीमांसाशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे, अतः उसी सरणि पर अभिधा का विवेचन किया गया है। मुकुलभट्ट केवल अभिधावृत्ति को मानते हैं और उसके दशविध का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जो इसे साहित्य में संचार करता है वह वाणीश्वर होता है—

दशविधमभिधावृत्तं यः साहित्यादौ
संचारयति स वागीश्वरी भवति''।

एक ही अभिधाव्यापार में अन्तिम अर्थ की प्रतीति मानते हैं।

मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज थे, जिनकी उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रहः' पर प्रख्यात टीका है। उनके अनुसार मुकुल भट्ट 'पद-वाक्य-प्रमाणपारावारपारीण' आचार्य थे। मम्मट पर मुकुलभट्ट का प्रभाव वृत्ति निरूपण में स्पष्ट है।

(3) भट्टतौत

भट्टतोत, अभिनगुप्त के गुरू तथा नाट्यशास्त्र के परमाचार्य विद्वान् थे। उन्होंने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन

किया था, परन्तु आज यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'काव्यकौतुक' पर 'विवरण' नाम से टीका लिखी थी नाट्यशास्त्र की टीका का प्रारम्भ में अभिनव कहते हैं– सद् विप्रतोतवदनोदित नाट्यवेद।

इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के रहस्यों का परिज्ञान भट्टतोत के द्वारा ही अभिनव को प्राप्त हुआ था। नाट्यशास्त्र में अनेकत्र भट्टतोत की कारिकायें तथा मन्तव्यों का उल्लेख है।

1. शान्तरस मोक्षप्रद होने के कारण सब रसों में श्रेष्ठ है–'मोक्षफलत्वेन चायं (शान्तरसः) परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः'।
2. जब कवि अपनी प्रतिभाशक्ति से वर्णित विषयों को प्रत्यक्ष की भाँति चित्रित करता है, तभी काव्यरस का आस्वादन होता है।
3. रस का मूल तत्त्व प्रीति है, वही नाट्य है और नाट्य ही वेद है– प्रीत्यामा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायः''
4. नाट्य में ही रस है। 'रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः'।
5. कवि ऋषि होता है और उसकी अभिव्यक्ति विशेष प्रेरणा पर आधारित है। यथा

   'नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्।
   विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।

   स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
   दर्शनाद्वर्णनाच्चाय रुढालोके कविश्रुतिः।।

   तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
   नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।।
6. अनुभावों और विभावों का सम्यक् वर्णन ही काव्य है।

   'अनुभाव विभावानां वर्णनाकाव्यमुच्यते'।।
7. भट्टतोत प्रदत्त प्रतिभा की परिभाषा अत्यधिक प्रख्यात है– 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'।।

परवर्ती अनेक आचार्यो ने तोत की कारिकाओं को प्रमाणस्वरूप प्रयुक्त किया है। काव्यकौतुक एक महत्त्वपूर्ण और अत्यधिक उपादेय ग्रन्थ था।

(4) भट्टनायक

भट्टनायक, ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन के अनन्तर और अभिनवगुप्त के पूर्व के आचार्य है क्योंकि आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन भट्टनायक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में किया और अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खण्डन किया। इस दृष्टि से भट्टनायक का समय दशम शतक का मध्यकाल मानना औचित्यपूर्ण और तर्कसंगत है।

आनन्दवर्धन प्रोक्त ध्वनि मत का खण्डन करने वाले भट्टनायक अग्रगण्य और प्राचीनतम आचार्य हैं। भट्टनायक का परवर्ती आचार्यो की कृतियों में विशेष कर रस की अनुभूति के सम्बन्ध में भट्टनायक का उल्लेख किया है। कतिपय उनकी मान्यतायें आज भी मान्य हैं। इनके सिद्धान्तों का परिचय अभिनवगुप्त रचित 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोकलोचन', मम्मट रचित 'काव्यप्रकाश', हेमचन्द्र रचित 'काव्यानुशासन' आदि ग्रन्थों में मिलता है।

'हृदयदर्पण' रस विवेचना का श्रेष्ठ ग्रन्थ था परन्तु आज यह अप्राप्य है। महिमभट्ट भी ध्वनि विरोधी आचार्य हैं। 'व्यक्तिविवेक की रचना करते समय उन्हें हृदयदर्पण अनुपलब्ध था–

'सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्।।
दर्पणो हृददर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थः''

कवि की बुद्धि नायिका है, उसे अपने अलंकार प्रसाधन में दर्पण आवश्यक वस्तु है। परन्तु यशः प्राप्ति की कामना से

उसका अवलोकन किये बिना अलंकार प्रसाधन में प्रवृत्त होने से दोषदर्शन की प्रतीति का न होना अवश्यंभावी है।

इस ग्रन्थ की पर्याप्तख्याति के दो कारण हैं। नाट्यशास्त्र के रसविषयक सूत्र "विभवानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" पर रसानुभूति सम्बन्धी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त प्रतिपादित करना, जो परवर्ती काल में मान्य हुआ तथा दूसरा कारण यह है कि यह ध्वनि मत विरोधी ग्रन्थ रहा। ये दोनों तथा नवीन चिन्तन की महिमा को व्यक्त करते है।

रसानुभूति के सन्दर्भ में भट्टनायक ने तीन व्यापारों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार अभिधाव्यापार, भावकत्त्व व्यापार और भोज्यकत्वव्यापार – तीनों रस की अनभूति में कार्य करते हैं' अभिद्याव्यापार के द्वारा सर्वप्रथम काव्य का सामान्य अर्थ प्रतीत होता है। भावकत्त्व व्यापार का कार्य राम-सीता के रामत्व, सीतात्व अर्थात् देश-काल की दृष्टि से व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध को दूर कर देता है तथा उनका साधारणीकरण करता है। इसके अनन्तर भोजकत्वव्यापार के फलस्वरूप सामाजिक को रस की अनुभूति होती है–

"तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम भावकत्वं रसादिविषयम
भोक्तृत्व सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूर्ताव्यापाराः।"

भट्टनायक का सिद्धान्त 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रख्यात है। भट्टनायक के पूर्व लोल्लट का 'उत्पत्तिवाद' तथा शंकुक का 'अनुमितिवाद' रसानुभूति विषयक मत थे, परन्तु लोल्लट-शंकुक दोनों ने रस की स्थिति सामाजिक में न मानकर मूलपात्र (रामादि) में मानी थी। भट्टनायक ने दोनों का खण्डन कर सर्वमान्य, रस की स्थिति सामाजिक में प्रतिष्ठापित की। यह उनकी अद्भुत प्रतिभा का फल था। काव्य प्रकाश में इनका मत निम्न है–

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोष्पद्यते नभिव्यज्यते अपितु काव्येनाटये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशनन्दमयसंविद् विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः" (काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास)

भट्टनायक के अनुसार, रसचर्वणा काव्य की आत्मा है। रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर के समान निरूपित कर, उसे उस स्थान तक पहुँचाने का श्रेय भट्टनायक को है। 'हृदयदर्पण' का निम्न श्लोक मंगलाचरण प्रतीत होता है–

'नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शंभवे यतः'।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्य प्रयोगरसिको जनः।।

(3) कुन्तक

कुन्तक साहित्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों में से एक हैं। कुन्तक ने विशाल परिधि में एक नये सिद्धान्त की उदभावना कर, सिद्धान्त प्रर्वतक आचार्य के रूप में प्रख्यात हुए। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक कुन्तक हैं

कुन्तक का समय आनन्दवर्धन के बाद और महिमभट्ट के पूर्व स्वीकृत है, क्योंकि उन्होंने आनन्दवर्धन का अपनी कृति 'वक्रोक्तिजीवित' में उल्लेख किया है–यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः।" तथा वक्रोक्तिजीवित में भवभूति तथा राजशेखर का भी उल्लेख है। "भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्ध सौन्दर्यसुभगेषु मुक्तेषु"

राजशेखर दशम शती के प्रारम्भिक काल में अविस्थित महेन्द्रपाल नामक कन्नौज के राजा के गुरू थे, अतः दशम् शती के मध्यभाग के पश्चात् ही कुन्तक का समय प्रतीत होता है। दूसरी ओर व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने कुन्तक का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने भी अप्रत्यक्ष रूप से कुन्तक का उल्लेख किया है। दोनों समकालीन प्रतीत होते हैं। अतः कुन्तक दशम् शती के अन्तिम और ग्यारहवीं शती के प्रारम्भिक भाग में थे।

कुन्तक की प्रख्यात रचना 'वक्रोक्तिजीवित' है। 'वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्' के अनुसार काव्य का जीवित तत्त्व वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति का अर्थ हृदयहारी कथन है। उनकी कीर्ति का आधार यह ग्रन्थ है जिसमें पदे-पदे कुन्तक की आलोचनात्मक प्रतिभा का परिचय मिलता है। 'कीर्तिरूपी स्फटिक के पिंजरे में कुन्तक-शुक सुखपूर्वक विचरण करता है–

वक्रानुरञ्जिनीमुक्तिं शुक इव मुखे वहन्।

कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे।। (साहित्यसौदामिनी-काव्यप्रकाश, टीका)

वक्रोक्तिजीवित' में चार उन्मेष हैं और ध्वन्यालोक की भाँति इसमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। उदाहरण प्रख्यात महाकवियों की कृतियों से हैं। व्यावहारिक समीक्षा के सन्दर्भ में कुन्तक से श्रेष्ठ दूसरा आचार्य नहीं है। कालिदास,

भवभूति, राजशेखर, माघ आदि कवियों के वैशिष्ट का ज्ञान सहज ही वक्रोक्तिजीवित से होता है। इस ग्रन्थ की भाषा में मादर्व पूर्णरूपेण विद्यमान है।

वक्रोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष में काव्य के प्रयोजन, लक्षण तथा षड्विध वक्रता का सामान्य परिचय प्रदान किया गया है। सुधा-सिन्धु का सार इसमें प्रतिपादित हुआ है। काव्यलक्षण है—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद् विदाह्लादकारिणि।।'

'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' ही वक्रोक्ति है। काव्य धर्मादि प्राप्ति का उपाय है, चमत्कार की प्राप्ति का साधन है।

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।। 1.3

'काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। 1.5

द्वितीय उन्मेष में वर्ण विन्यास वक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता और प्रत्ययवक्रता का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का सोदाहरण विस्तारपूर्वक विवेचन है। वाक्यवक्रता के अन्तर्गत अलंकारों का प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थ उन्मेश में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का निरूपण किया गया है।

वक्रोक्ति का विशालप्रासाद आनन्दवर्धन प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त के आधार पर निर्मित हुआ है। यह एक अन्यत्र महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि कुन्तक प्रखर चिन्तक और नवनवोन्मेष प्रतिभाशाली विश्रुत विद्वान् थे। वक्रोक्तिजीवित एक मूल्यवान् कृति है। मौलिक विचारों से भरपूर यह कृति है। उत्तम आलोचक कवि के काव्यसौन्दर्य को प्रस्फुटित करता है। कुन्तक को कविगत काव्य-सौन्दर्य के प्रस्फुटीकरण में अपूर्व सफलता मिली है।

'वक्रोक्तिसिद्धान्त' का अध्ययन प्रारथानिकवर्गीकरण' के अन्तर्गत क़िया गया है—वही देखें।

6. अभिनवगुप्तपाद

भरत के नाट्यशास्त्र तथा आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक के व्याख्याकार रूप में अभिनवगुप्त का काव्यशास्त्र में अद्वितीय स्थान है। उनकी व्याख्यायें अत्यधिक प्रौढ़, पाण्डित्यपूर्ण और रहस्योद्घाटन में सर्वश्रेष्ठ हैं। इनका महत्त्व मौलिक ग्रन्थ की तरह है। विद्वानों के अनुसार अभिनवगुप्त को अलंकारशास्त्र में वही श्लाघनीय स्थान प्राप्त है जो व्याकरणशास्त्र में पतञ्जलि और वेदान्त दर्शन में शंकर को प्राप्त है। अभिनवगुप्त कवि, दार्शनिक, भक्त, आलोचक और प्रखर चिन्तक थे। अभिनवगुप्त मध्यकालीन भारत के महान् व्यक्तियों में से एक थे। वे तीव्र प्रतिभासम्पन्न तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। वे बहुश्रुत ज्ञानी थे।

समय

अभिनवगुप्त ने अनेक ग्रन्थों में अपने पूर्वजों तथा कृति-समय का उल्लेख किया है। उन्होंने 'भैरवस्तोत्र' की रचना 992 ई. में तथा इसके पूर्व 'क्रमस्तोत्र' लिखा गया था। इसकी रचना 990 ई. में हुई।

'वृहतीविमर्शिणी' जो सम्भवतः उनकी अन्तिम रचनाओं में से है, की रचना सन् 1044 ई. में हुई। इन ग्रन्थों का रचना-काल अभिनवगुप्त ने स्वयं दिया है। अतः इन अन्तः साक्ष्यों के आधार पर अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का अन्त तथा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

कृतियाँ

काश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने न केवल अलंकारशास्त्र पर ग्रन्थों का प्रणयन किया अपितु दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की भी रचना की। अभिनवगुप्त रचित प्रख्यात ग्रन्थों में से एक 'तंत्रालोक' है। यह तंत्र का (काश्मीरी शैवदर्शन) एक महान् और विशाल ग्रन्थ है। 'क्रमस्तोत्र' अल्पकाय ग्रन्थ है। उनकी कुछ प्रमुख रचनायें निम्न हैं—

1. तंत्रालोक, तंत्रसार, तंत्रोच्चय आदि।
2. परमार्थसार, गीतार्थसंग्रह, परमार्थचर्चा, परमार्थसंग्रह आदि।
3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, पूर्वपंचिका आदि।

4. क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुत्तरशतक आदि।

5. काव्यकौतुकविवरण, नाट्यालोचक, ध्वन्यालोकलोचन, अभिनवभारती।।

चालीस से भी अधिक ग्रन्थों के रचयिता अभिनवगुप्त ने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन गुरुमुख से किया था। शास्त्र का अध्ययन करने के लिये वे गुरू-गृह में निम्न कार्य सम्पादित करने में तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे। उनके अनुसार– 'करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्'।

वे महान् विद्याव्यसनी थे। उन्होंने जिस शास्त्र का जिस गुरु से अध्ययन किया था, उनका उल्लेख सम्मानपूर्वक किया है, यही उनकी महानता है। अभिनवगुप्त के पिता नरसिंह गुप्त थे, जिनसे व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। नाट्यशास्त्र के गुरु भट्टतोत की कृति 'काव्यकौतुक' पर 'विवरण' लिखा जो अनुपलब्ध है।

जीवन

अभिनवगुप्त ने अपना परिचय अनेक ग्रन्थों में दिया है। वे अत्रिगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज मध्यदेशीय थे। ललितादित्य यशोवर्मा पर विजय प्राप्त कर अत्रिगुप्त आदि विद्वानों को कश्मीर लाया। अत्रिगुप्त अभिनवगुप्त के पूर्वज हैं। अभिनवगुप्त परमशैव थे। अभिनवगुप्त 'योगिनीभू' पुत्र थे क्योंकि 1.'रुद्रेभक्तिः, 2. मंत्रसिद्धिः, 3. सर्वतत्त्वशिवत्वं, 4. प्रारब्धकार्य-निष्पत्तिः तथा 5.पाँचवाँ 'कवित्व' ये पांच चिह्न योगिनीभू' के होते हैं, जो प्रारम्भ से ही अभिनवगुप्त में थे। वे उच्चकोटि के योगी और सहृदय थे। श्लोकों का सौन्दर्य प्रकट करते समय उनकी लालित्यपूर्ण भाषा गद्यकाव्य का रूप ग्रहण कर लेती है। वे काव्य तत्त्व पारखी थे।

अभिनवगुप्त चरतुरस्त्र पाण्डित्य के धनी, कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न, महान् साधक एवं दर्शनिक, कवि और आचार्य थे। अनेक शास्त्रों का पूर्ण बोध था। साहित्यशास्त्र के वे मेरूदण्ड हैं परवर्ती काल का प्रत्येक आलंकारिक उनकी मान्यताओं को स्वीकृति प्रदान करता है।

साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित उनंकी दो ही रचनायें ध्वन्यालोकलोचन और अभिनवभारती उपलब्ध हैं।

'ध्वन्यालोकलोचन' यथार्थ में लोचन नेत्र की भाँति है। ध्वन्यालोक के तत्त्वों की प्रतीति लोचन के बिना असम्भव है। मूल की अपेक्षा, कहीं कहीं लोचन का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पाण्डित्यपूर्ण टीका का आकरग्रन्थ के समान ही महत्त्व है। ध्वनि यदि सूर्य का आलोक है तो उस आलोक की प्रतिपत्ति लोचन से ही होती है। ध्वन्यालोकलोचन को साहित्यशास्त्र में विशेष ख्याति और स्थान प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र पर एकमात्र उपलब्ध टीका अभिनवगुप्त रचित 'अभिनवभारती' है। समय के प्रवाह में नाट्यशास्त्र एक दुरुह ग्रन्थ प्रतीत होने लगा था। अनेक आचार्यों ने अपनी मेघा के आधार पर नाट्यशास्त्र के अर्थ को समझने का स्तुल्य प्रयत्न किया था। अभिनव ने उन सबका मन्थन कर 'अभिनवभारती' सर्वतोग्राह्य टीका लिखी। साहित्य, संगीत, कला, छन्द, अभिनय, आदि से सम्बन्धित तत्त्वों का सूक्ष्म निरूपण इस ग्रन्थ में है। यह एक स्वतंत्र मौलिक महाग्रन्थ है।

भरत के नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रसनिष्पत्ति की चर्चा है। इस रससूत्र के आधार पर भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद का परिज्ञान अभिनवभारती से ही होता है क्योंकि अन्य आचार्यो के ग्रन्थों की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई। यदि 'अभिनवभारती' नाट्यशास्त्र पर न लिखी गई होती, तो न जाने कितने आचार्यों की देन विलुप्त हो गई होती।

(7) धनञ्जय

नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित, धनञ्जय रचित 'दशरूपक' एक उपादेय ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र अत्यधिक विपुल अनेक विषयों से संवलित ग्रन्थ है। धनञ्जय ने नाट्यशास्त्र को ही आधार मानकर उसका सारतत्त्व प्रस्तुत किया–

'व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा।।

(दशरूपक 1.5)

अतः इस ग्रन्थ का सम्बन्ध नाट्यशास्त्रीय विषयों से है। इसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन नहीं हुआ। भरतमुनि के पश्चात् नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का चिन्तन विलुप्तप्राय था। धनञ्जय ने उसे पुनः महत्त्व प्रदान किया और चिन्तन को आगे बढ़ाया। अतः 'दशरूपक' एक महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

धनञ्जय के पिता का नाम 'विष्णु' था और धनञ्जय मालवा के परमारवंशीय राजा 'मुञ्ज' की सभा के रत्न थे। मुञ्ज का काल 974 ई. से 994 ई. तक माना जाता है। यही धनञ्जय का समय है। अन्त में स्वयं धनञ्जय ने इसकी सूचना दी है।

'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन
विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी–
वैदग्ध्य भाजा दशरूपमेतत्।।

'अवलोक' 'दशरूपक' पर धनञ्जय के अनुज धनिक की टीका अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण और उदाहरणों से संगतिमयी है। अतः दशरूपक का अध्ययन प्रायः इस टीका के साथ ही सर्वत्र प्रचलित है। 'अवलोक' का अपना महिमापूर्ण स्थान है।

दशरूपक में लगभग तीन सौ कारिकायें हैं। कारिका भाग का लेखक धनञ्जय है। वृत्ति और उदाहरण धनिक के हैं। यह ग्रन्थ चार प्रकाशों में विभाजित है।

1. प्रथम प्रकाश में गणेश, विष्णु, भरत, सरस्वती की वन्दना, रूपक-भेद कथन, नृत्य, नृत्त आदि निरूपण पाँचों संधियाँ तथा सान्ध्यङ्गों और अर्थोपक्षेपकों का प्रतिपादन किया गया है।
2. द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद तथा वृत्ति और वृत्यङ्गों का निरूपण किया गया है।
3. तृतीय प्रकाश में नाटक की प्रारम्भिक व्यवस्था, सूत्रधार आदि तथा प्रस्तावना और नाटक, प्रकरण आदि दस प्रकार के रूपकों का वर्णन है।
4. चतुर्थ प्रकाश रस से सम्बन्धित है। रस, रस के अवयव ओर उसके भेदोंपभेदों का सुन्दर निरूपण है।

'नाट्यशास्त्र' के लक्षणों का संक्षिप्तीकरण होने पर भी 'दशरूपक' का अपना महत्त्व है।

रूपक का मुख्य उद्देश्य सहृदय को अलौकिक आनन्द की प्रतीति करना है, इसीलिये रूपक आनन्द निष्यन्द हैं।

अतः रसाश्रित रूपक दश ही हैं।

"दशधैव रसाश्रयम्" (दशरूपक–1.7)

रूपकों के भेदोपभेदक मुख्य रूप से तीन ही तत्त्व हैं।

वस्तुनेता रसस्तेषां, भेदकः।। दशरूपक–1.11।।

चतुर्थ प्रकाश में नाट्य के सन्दर्भ में रस का विवेचन है। रस-निष्पत्ति के विषय में धनञ्जय व्यंजना विरोधी आचार्य हैं। वे तात्पर्यवादी आचार्य हैं और उसी से रस की निष्पत्ति मानते हैं। रस नाट्य में ध्वनित नहीं होता अपितु प्रेक्षक द्वारा उसका अनुभव किया जाता है।

धनञ्जय शान्तरस को नाट्य की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार नाट्य में आठ ही रस अभिनेय हैं। शान्त नहीं–

"शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।।

स्थायी भाव रस है (स्थायी भावो रसः स्मृतः' 4.1) और रस का स्थान रसिक, सहृदय हृदय है।

'रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्। (दशरूपक 1.38)

धनञ्जय का स्थायीभाव और संचारीभाव का लक्षण अत्यधिक प्रख्यात और स्पष्ट है।

स्थायीभाव लक्षण–

'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः।। (दशरूपक 4.34)

व्यभिचारीभाव लक्षण–

'विशेषाद भिमुख्येन चरन्तोव्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इववारिधौ। (दशरूपक 4.7)

8

1100 ईस्वी से 1200 ईस्वी तक

(1) महिमभट्ट, (2) भोजराज, (3) क्षेमेन्द्र, (4) मम्मट, (5) रूपक, (6) सागरनन्दी, (7) हेमचन्द, (8) रामचन्द्र-गुणचन्द्र, (9) वाग्भट्ट प्रथम, (10) वाग्भट्ट द्वितीय

1. महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' की रचना का प्रयोजन प्रतिपादित करते हुए कहा है कि समस्त ध्वनि का अनुमान के अन्तर्गत प्रतिपादित करने के लिए ही हुई है—

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।

राजानक उपाधि से अलंकृत महिमभट्ट का प्रथम उल्लेख ग्यारहवीं शती के अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने किया है और महिमभट्ट ने कुन्तक का उल्लेख किया है। व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त के मत का भी खण्डन है। अतः महिमभट्ट का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग ओर ग्यारहवीं शती का प्रारम्भिक भाग है।

महिमभट्ट की एकमात्र कृति 'व्यक्तिविवेक' है। इन्होंने 'तत्त्वोक्तिकोष' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी प्रणयम किया था, जो उपलब्ध नहीं है। अतः महिमभट्ट की समस्त कीर्तिका आधार 'व्यक्तिविवेक' ही है। 'व्यक्ति' का अर्थ व्यञ्जनावृत्ति है और विवेक पद का अर्थ समीक्षण है। अतः व्यक्तिविवेक का मुख्य प्रतिपाद्य व्यञ्जना वृत्ति विचार है।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि सिद्धान्त और सर्वथा नयी वृत्ति 'व्यञ्जना' की उद्‌भावना के फलस्वरूप सपक्षीय और विपक्षीय चिन्तन काव्यशास्त्र में प्रारम्भ हुआ। अभिनवगुप्त ने ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया तो उतना ही उसका उग्र विरोध भी हुआ। मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक और महिमभट्ट आदि प्रमुख आचार्यों ने उसका खण्डन किया। महिमभट्ट नैयायिक और मूर्धन्य काश्मीरी आचार्य थे। उनकी खण्डनात्मक समीक्षा का आधार न्याय की पद्धति है। इसलिये उनकी यह प्रथम प्रतिज्ञा है कि ध्वनि का सामान्य रूप और उसके उदाहरण अनुमान के ही अन्तर्गत हैं, स्वतंत्र रूप से व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता नहीं। इसमें व्यञ्जना वृत्ति के खण्डन का स्वर अधिक तीव्र है।

'व्यक्तिविवेक' में तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में व्यञ्जना वृत्ति का खण्डन किया गया है। इसमें समस्त ध्वनि प्रकारों, उदाहरणों का विवरण प्रस्तुत कर अनुमान के द्वारा ज्ञातव्य बतलाकर विवेचनात्मक और प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है।

द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष स्वीकार कर काव्य दोषों की मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की गई है। महिमभट्ट का काव्य-दोष निरूपण सर्वथा मौलिक और परवर्ती आचार्यों के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। शब्द और अर्थ विषयक अथवा बहिरंग और अन्तरंग विषयक अनौचित्य दो प्रकार का होता है। रस दोष ही अन्तरंग अनौचित्य दोष है तथा बहिरंग दोष—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन पाँच प्रकार का प्रतिपादित है। महिमभट्ट ने दोषों की एक समुचित व्यवस्था प्रदान की और उनका निरूपण सर्वथा एक नयी दिशा प्रदान करता है। लेखक तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के ध्वनि—उदाहरणों को अपनी आलोचना का विषय बनाता है और सतर्क सभी उदाहरणों को अनुमान के ही प्रकार निरूपित करता है। इसमें चालीस उदाहरण उपन्यस्त हैं।

'व्यक्तिविवेक' पर रुय्यक की प्राचीन टीका है, जो द्वितीय विमर्श के कुछ भाग तक प्राप्त है। यह प्रखर पाण्डित्य पूर्ण टीका है।

महिमभट्ट के अनुसार ध्वनि का प्राण व्यक्ति है अतः आनन्दवर्धन के अन्य तत्त्वों मे विमति नहीं है केवल व्यञ्जना का विरोध है।

'प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता।
यत्वन्यत् तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम्।।

महिमभट्ट बहुश्रुत विद्वान् थे। व्याकरण, न्याय, मीमांसा, काव्यशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे। परन्तु मुख्य रूप से वे

नैयायिक थे, जिसकी प्रतीति 'व्यक्तिविवेक' में सर्वत्र होती है। काव्यप्रकाश के टीकाकार गोपालभट्ट ने ठीक ही कहा है कि 'महागुरु ध्वनिकार के रसामृत सरिता में निमग्न होने पर भी अनुमान की महिमा काव्यगोष्ठी को नहीं छोड़ती—इसमें महिमभट्ट की महिमा प्रतिपादित है—

'रसामृतनदीमग्ने ध्वनिकारे महागुरौ।
अनुमाया हि महिमा काव्यगोष्ठी न मुंचति।।

2. भोजराज

उदार दानशील के रूप में अत्यधिक प्रख्यात धारानरेश राजा भोज स्वयं पण्डित तथा प्रतिभाशाली समीक्षक थे। इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। सिन्धुराज भोज के पिता थे। भोज का एक दान पत्र प्राप्त है जिसका समय 1021 ई. है तथा भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का समय 1055 ई. है। अतः भोज का समय ग्यारहवीं शती का प्रथमार्ध भाग है।

भोज अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' काव्य शास्त्र से सम्बन्धित तथा 'समरांगणसूत्रधार' नामक प्रख्यात ग्रन्थ स्थापत्य आदि से सम्बन्धित मानक ग्रन्थ हैं। अलंकार शास्त्र से सम्बन्धित उनके दो ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' हैं।

'सरस्वती कण्ठाभरण' पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथमपरिच्छेद में दोष और गुण का विवेचन है। पद वाक्य तथा वाक्यार्थ के सोलह-सोलह तथा शब्द और अर्थ के चौबीस चौबीस दोषों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में चौबीस शब्दालंकारों का, तृतीय परिच्छेद में 24 अर्थालंकारों का तथा चतुर्थ परिच्छेद में 24 उभयालंकारों का निरूपण है। पाँचवे परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का वर्णन किया गया है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' की रत्नेश्वर रचित 'रत्नदर्पण' टीका प्राप्त है।

'शृंगारप्रकाश' साहित्यशास्त्र का विशालकाय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 36 प्रकाशों में विभक्त है। इसके प्रारम्भिक आठ प्रकाशों में शब्द तथा अर्थगत चिन्तन है। नवमें प्रकाश में गुणों का तथा दसवें में दोषों का सोदाहरण निरूपण है। ग्यारहवें में महाकाव्य, बारहवें में नाटक का वर्णन है। तेरहवें से लेकर छत्तीसवें तक रसों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

भोज शृंगार रस को ही प्रधानरस मानते हैं और उसी की विस्तृत विवेचना ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। यद्यपि विद्वान् दश रसों का विवेचन करते हैं तथापि शृंगार रस ही एकमात्र रस है—जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थों का दाता है।

'शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य—
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृंगारमेव रसनाद् रसमाम नामः।।

सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश दोनों में उदाहरणों का प्राचुर्य है। भोज के अनुसार—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इति। कःपुनः शब्दः 1. येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते। कोऽर्थः। यः शब्देन प्रत्याय्यते। किं साहित्यम्। यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा, अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभागः, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः, दोषहानम्, गुणादानम्, अलंकारयोगः रसावियोराश्च।।

काव्यशास्त्र के इतिहास में दोनों ग्रन्थों का अमूल्य महत्त्व एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

3. क्षेमेन्द्र

काश्मीरी आचार्य क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्र में नये सिद्धान्त 'औचित्यसिद्धान्त' के प्रवर्तक और प्रतिष्ठापक प्रख्यात आचार्य हैं। **ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में क्षेमेन्द्र का काल है।** उन्होंने अपने 'कविकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ में 'अनन्तराज' नामक राजा का उल्लेख किया है। अनन्तराज का राज कश्मीर में 1028 ई. से 1063 ई. तक था। क्षेमेन्द्र ने अपने 'समयमातृका' ग्रन्थ की रचना 1050 ई. में की थी।

क्षेमेन्द्र के साहित्यशास्त्र के गुरु अभिनवगुप्त थे— श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्, साहित्यं बोधवारिधेः।।

क्षेमेन्द्र ने विभिन्न विषयों पर विपुल रचनायें की हैं। वे लगभग 40 ग्रन्थों के रचयिता हैं। भारतमंजरी, वृहत्त्कथामंजरी,

चित्रभारतनाटक, पद्यकादम्बरी, लावण्यवती, विनयवती आदि प्रसिद्ध हैं।

'सुवृत्ततिलक', 'कविकण्ठाभरण' और औचित्यविचारचर्चा'—तीन काव्यशास्त्र विषयक प्रख्यात ग्रन्थ हैं।

सुवृत्ततिलक' ग्रन्थ में छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण उपन्यस्त हैं। इसमें यह भी बताया गया है कि किस कवि का किस विशेष छन्द पर आधिपत्य है। इसके अनुसार भारवि वंशस्थ में, कालिदास मन्दाक्रान्ता में और भवभूति शिखरिणी में सिद्धच्छन्द कवि हैं।

कविकण्ठाभरण' में कवित्व की प्राप्ति अथवा उसमें उत्कर्ष प्राप्ति के उपायों का वर्णन किया गया है। इसमें पाँच सन्धियाँ हैं और 55 कारिकायें हैं। यह कवि-शिक्षा विषयक द्वितीय ग्रन्थ है, प्रथम राजशेखर की काव्यमीमांसा है। इसमें कवियों के भेद, काव्य के गुण-दोष का संक्षिप्त विवेचन है।

'औचित्यविचारचर्चा' काव्यशास्त्र में विचार और चर्चा का ग्रन्थ है। इसी ग्रंथ के कारण क्षेमेन्द्र को आलंकारिक माना जाता है। औचित्य ही रस का भी प्राण है, जिसके भेदों का सूक्ष्म, सोदाहरण विवेचन किया गया है।

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणेः।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

इसमें पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन आदि से औचित्य का सम्बन्ध दिखलाया है। औचित्य का पूर्व परम्परा से प्राप्त व्यापक चित्रण और सोदाहरण विवेचन क्षेमेन्द्र ने प्रस्तुत किया है।

'औचित्यसिद्धान्त' का वर्णन 'प्रास्थानिक वर्गीकरण' के अन्तर्गत देखिए।

4. मम्मट

अलंकारसाहित्य में मम्मट रचित काव्यप्रकाश का विशिष्ट स्थान है। यह एक लब्धप्रतिष्ठ और समादृत ग्रन्थ है। इसमें शताब्दियों से प्रचलित मत-मतान्तरों का सार तत्त्व निहित है और स्वयं आगे अनेक सिद्धान्तों का मूलस्रोत बना है। वेदान्तदर्शन में शारीरिकभाष्य और व्याकरणशास्त्र में महाभाष्य का जैसे महत्त्व है वैसे ही काव्य शास्त्र में काव्यप्रकाश का महत्त्व है यह ग्रन्थ भावी भाष्यों, टीकाओं का उद्गम ग्रन्थ बन गया। इसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन पूर्ण और सर्वाङ्गीण होने के साथ ही साथ संक्षिप्त है।

काव्यप्रकाश में काव्यशास्त्र को सभी विषयों का सूक्ष्म विचन किया गया है। काव्यप्रकाश साहित्यसमीक्षा का उत्कर्ष बिन्दु है इसीलिए मम्मट को सरस्वती का अवतार 'वाग्देवतावतार': कहा जाता है। काव्यप्रकाश से बढ़कर साहित्यशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। गौरव मण्डित ग्रन्थ की उपादेयता अनुत्तम है। आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्ट ने ध्वनि को ध्वस्त करने का जो विपुल प्रयत्न किया, उन सबका युक्तिपूर्ण खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्त को ही पुनःप्रतिष्ठापित किया। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया।

मम्मट ने अभिनवगुप्त (1015 ई.) के रसानुभूति विषयक मत का सार दिया है तथा माणिक्यचन्द्र की (1160 ई.) काव्यप्रकाश पर प्रथम टीका प्राप्त है। अतः मम्मट का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध है।

मम्मट साहित्य, व्याकरण, मीमांसा के महान् मर्मज्ञ विद्वान् हैं। मम्मट रचित दो कृतियाँ 1. शब्दव्यापारविचार और 2. काव्यप्रकाश हैं।

'शब्दव्यापारविचार' एक लघुकाय ग्रन्थ है। इसमें वृत्तियों का विचार किया गया है। जो काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में भी है।

काव्यप्रकाश उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह दश उल्लासों में विभक्त है। इसमें कुल 150 कारिकायें हैं। कारिकाओं की वृत्ति के रचयिता स्वयं मम्मट हैं। यद्यपि कतिपय टीकाकार कारिकाओं का रचयिता भरत को मानते हैं, जो तर्क संगत तथा तथ्य रहित है। वृत्तियों के पश्चात् उदाहरण प्रदान किये गये हैं। अतः कारिका, वृत्त और उदाहरण काव्यप्रकाश का बाह्यरूप है। यह ग्रन्थ अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण और गम्भीर है। दुर्बोध्यता के कारण इसकी सबसे अधिक टीकायें लिखी गईं।

1. प्रथम उल्लास में काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु काव्यलक्षण तथा काव्य के भेद, 2. द्वितीय उल्लास में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्तित्रय का विवेचन तथा 3. तृतीय में आर्थी व्यंजना का निरूपण है। 4. चतुर्थ उल्लास में रस और रसध्वनि के भेदोपभेद 5. पंचम में गुणीभूत व्यंग्य काव्य, 6. छठे में चित्रकाव्य, 7. सातवें में दोष, 8. आठवें में गुण तथा 9. नौवें-दसवें में शब्दालंकार और 10. अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार नाट्य को छोड़कर काव्य के सभी अंगों का 'काव्यप्रकाश' में विचार किया गया है एवं काव्य के सभी अंगों को समुचित स्थान प्राप्त है। यह मम्मटीय व्यवस्था इतनी तर्कसंगत और सुचारू रही कि परवर्ती अनेक आचार्यों ने मम्मट का अनुसरण किया।

मम्मट के पूर्व अनेक तत्त्वों का ऊहापोह चल रहा था। भरतमुनि से मम्मट पर्यन्त साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों की अनवरत चिन्तन धारा प्रवाहित हो रही थी। मम्मट ने विशाल काव्यशात्र पयोधि का मन्थन कर उसका सारभूत नवनीत काव्यप्रकाश में उपस्थापित किया। अलंकार, रस, रीति, ध्वनि आदि सभी तत्त्व एक स्थान पर विवेचित हुए और प्रत्येक को यथा अपेक्षित स्थान प्राप्त है। मम्मट की तत्त्वविवेकिनी प्रतिभा के कारण ही सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यिक सिद्धान्त काव्यप्रकाश में वर्णित है। महती कृति के लिये जिस श्रम और कलात्मक प्रतिभा की आवश्यकता होती है वह समयग्ररूप में मम्अ में उपस्थित थी।

मम्मट के काव्यप्रकाश पर लगभग पचास से अधिक टीकायें प्राप्त हैं। जिसके लेखक वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक ओर आलंकारिक हैं। काव्यप्रकाश का सभी क्षेत्रों में समादर है—यही उसकी महनता का परिचायक है।

5. रुय्यक

मम्मट के अनन्तर साहित्यमीमांसकों में रुय्यक प्रमुख आचार्य हैं। ये कश्मीरी आचार्य राजानक उपाधि से विभूषित थे। इनका 'अलंकारसर्वस्व' अलंकारों के विवेचन में एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। रुय्यक के काल के निर्णय में 'श्रीकण्ठचरित' का उल्लेख आवश्यक है। इसकी रचना 1145 ई. में है। अतः रुय्यक का ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है, क्योंकि रुय्यक ने 'श्रीकण्ठचरित' से श्लोक उद्धृत किया है।

रुय्यक लिखित काव्यशास्त्रीय निम्न ग्रन्थ हैं—

1. व्यक्तिविवेक टीका—यह महिमभट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' पर प्रख्यात, पाण्डित्यपूर्ण टीका है।
2. काव्यप्रकाशसंकेत—मम्मट के काव्यप्रकाश पर 'संकेत' नाम से टीका है।
3. सहृदयलीला—यह एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमें स्त्रियों के सौन्दर्य गुणों तथा आभूषणों का वर्णन है।
4. साहित्यमीमांसा—यह एक प्रख्यात ग्रन्थ है। इसमें आठ प्रकरण हैं। इसमें व्यञ्जना वृत्ति का विवेचन नहीं है तथा कतिपय अलंकारों का ही निरूपण है। इसमें व्यञ्जना वृत्ति के स्थान पर तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है। यह रुय्यक की संभवतः प्रारम्भिक रचना है क्योंकि इसमें ध्वनि का अभाव है। इसमें कवि और रसिकभेद, वृत्त्यादि का लक्षण, दोष विवेचन, गुण की मीमांसा, अलंकारनिरूपण, रस और भाव का प्रतिपादन है।

5. 'अलंकारसर्वस्व' रुयक की प्रौढ़ रचना है। अलंकार निरूपण का यह एक प्रमुख अैर प्रामाणिक रचना है। रुय्यक ध्वनिकार के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इसके प्रारम्भ में काव्य की आत्मा के विषय में उपलब्ध भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन, कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट और आनन्दवर्धन के मतों का सारांश दिया गया है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। रुय्यक ने अलंकारों का विशद विवेचन किया है। विकल्प और विचित्र नामक दो नवीन अलंकारों की उद्‌भावना भी की है। परवर्ती काल के अलंकार निरूपण में इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। यह प्रेरणात्मक ग्रन्थ है।

'अलंकारसर्वस्व' पर चार प्रसिद्ध टीकायें उपलब्ध हैं।

1. राजानक अलक रचित टीका।
2. समुद्रबन्ध—तेरहवीं शती का अन्तिम भाग, उपादेय टीका।
3. जयरथ—'विमर्शिणी' नाम से पाण्डित्यपूर्ण टीका है। रुय्यक के मन्तव्यों का इसमें उद्‌घाटन हुआ है।
4. विद्याधर चक्रवर्ती—'अलंकारसंजीविनी' अथवा 'सर्वस्वसंजीविनी' नामक टीका।

'अलंकारसर्वस्व' पर टीका बाहुल्य की प्राप्ति रुय्यक की प्रतिभा को प्रकट करती है। रुय्यक का अलंकार-चिन्तन सारग्राही और सूक्ष्म है।

6. सागरनन्दी

सागरनन्दी नाट्यशास्त्र के अनुपम आचार्य हैं। धनञ्जय के दशरूपक के लगभग सौ वर्ष पश्चात् सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह नाट्य विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सागरनन्दी का असली नाम सागर था। नन्दी वंश में उत्पन्न होने के कारण ये 'सागरनन्दी' नाम से विख्यात हुए।

'नाटकलक्षणरत्नकोष' का मुख्य आधार ग्रन्थ भरमुनि रचित नाट्यशास्त्र है। अनेक स्थानों पर भरत के श्लोक ही लक्षणार्थ उपस्थापित किये गये हैं।

'नाटकलक्षणरत्नकोष' ग्रन्थ की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें अनेक ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनका अन्यत्र नाममात्र या स्फुट सैद्धान्तिक उल्लेख हुआ ह। मातृगुप्त, राहु, कात्यायन, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट, बादरायण, शातकर्णि प्रभृति ऐसे ही आचार्य हैं जिनका यत्र तत्र नाटकलक्षणरत्नकोष' में उल्लेख हुआ है। इन नाट्यशास्त्रीय आचार्यो के उल्लेख से इस ग्रन्थ का महत्त्व और अधिक हो गया है। इसी प्रकार उदाहरण के रूप में उल्लिखित अनेक काव्य कृतियाँ भी आज अप्राप्य हैं।

नाटकलक्षणरत्नकोष' में अवस्था, अर्थप्रकृति, सन्धि-सन्ध्यंग, अर्थोपक्षेपक, सन्ध्यन्तर, वृत्ति नायकगुण, लक्षण, नाट्यालंकार, रस, भाव तथा रूपक के भेदोंपभेदों का सोदाहरण निरूपण उपलब्ध है।

7. हेमचन्द्र

जैनधर्म और दर्शन के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' उत्तम ग्रन्थ है। हेमचन्द्र गुजरात प्रान्त के धुन्धुक ग्राम के निवासी थे। अनहिलपट्टन के 'चालुक्य राजा सिद्धराज' के अनुरोध पर इन्होंने अपना 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण का ग्रन्थ निर्मित किया था। सिद्धराज का काल 1093 ई. से 1143 ई. तक है। अतः हेमचन्द्र का समय 1088 ई. से 1172 ई. तक माना जाता है।

साहित्यशास्त्र पर इनकी एकमात्र कृति 'काव्यानुशासन' है। हेमचन्द्र ने स्वयं इस ग्रन्थ पर 'विवेक' नामक टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभाजित है।

1. प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण तथा शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन किया गया है।
2. द्वितीय अध्याय में रसस्वरूप, रस और उसके भेदोपभेदों का सुन्दर निरूपण है। हेमचन्द्र नौ रसों का ही निरूपण करते हैं।
3. तृतीय अध्याय काव्यदोषों से सम्बन्धित है और
4. चतुर्थ में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का विवेचन किया गया है।
5. पाँचवें अध्याय में शब्दालंकारों का तथा
6. छठे अध्याय में उपमादि अर्थालंकारों का सोदाहरण विवेचन है।
7. सातवाँ अध्याय नायशस्त्र से सम्बन्धित है इसमें नायक और नायिका के भेदों का निरूपण है तथा अन्तिम
8. आठवें अध्याय में काव्य के भेदोपभेदों की चर्चा है।

'काव्यानुशासन' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें नाट्यशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का एकत्र आकलन किया गया है। इसके पूर्व प्रायः इस प्रकार की परम्परा नहीं थी, या तो नाट्यविषयक विषयों का निरूपण हो रहा था, जैसे नाट्यशास्त्र, दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोष्ठ या एकमात्र काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ प्रणीत हुए, जैसे भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का काव्यालंकार सारसंग्रह, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, मम्मट का 'काव्यप्रकाश' आदि। 'काव्यानुशासन' के आठ अध्यायों में एक साथ दोनों का निरूपण प्रारम्भ हुआ तथा इसका अनुकरण विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया।

काव्यानुशासन का स्वतंत्र चिन्तन में कोई विशेष स्थान नहीं है। यह एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसमें ध्वन्यालोकलोचन, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश आदि विख्यात ग्रन्थों के अनुसार तत्त्वों का निरूपण है। 'विवेक टीका का तो मुख्य आधार अभिनवगुप्तरचित अभिनवभारती' है। संग्रहात्मक ग्रन्थ होने के कारण परवर्ती साहित्यशास्त्र पर इस ग्रन्थ का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है। ग्रन्थ में सूत्रप्रक्रिया अपनाई गई है। मम्मट कृत काव्यप्रयोजन की छाप सूत्र में भी है। जैसे--

काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयो पदेशाय च" (1.3 काव्यानु.)

8. रामचन्द्र गुणचन्द्र

हेमचन्द्र के पश्चात् उनके शिष्य द्वय रामचन्द्र गुणचन्द्र उच्चकोटि के चिन्तक प्रतीत होते हैं। हेमचन्द्र के समान ही ये दोनों प्रसिद्ध जैनाचार्य हैं। इन दोनों ने मिलकर प्रख्यात 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। 'नाट्यदर्पण' के साथ रामचन्द्र गुणचन्द्र की सम्मिलित प्रतीति होती है। 'रामचन्द्र' को 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा जाता है परन्तु गुणचन्द्र की कोई भी दूसरी कृति उपलब्ध नहीं है।

'नाट्यदर्पण' कारिकाबद्ध है। उन कारिकाओं पर वृत्ति ग्रन्थकारों की ही लिखी हुई है। उदाहरण पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों से तथा रामचन्द्र रचित कृतियों से भी दिये गये हैं।

नाट्यदर्पण में चार 'विवेक' हैं। इसमें नाटक, प्रकरणादि, रूपक, रस, भावादि का विवेचन किया गया है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ की रचना भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर की है। नाट्यशास्त्र के 18वें अध्याय में नाट्य के दशभेदों का वर्णन है। नाटिका और 'प्रकरणी' का भी विवेचन किया गया है। इस प्रकार नाट्य के दस तथा नाटिका और प्रकरणी को मिलाकर 12 रूपकों का निरूपण किया गया है।

नाट्यदर्पण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग रस निरूपण है। उनके अनुसार रस सुख दुःखात्मक होता है--

"सुखदुःखात्मको रसः" (3.7)

इस वाक्य के अनुसार इसकी व्याख्या करते हुए श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भत और शान्त—ये पाँच रस सुखात्मक हैं तथा करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं। साहित्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र में रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रस का सुखात्मक और दुःखात्मक उभय विधि निरूपण किया है। यद्यपि इनके पूर्व अभिनवभारती तथा भोजरचित श्रृंगारप्रकाश में संकेत मिलते हैं परन्तु स्पष्ट रूप से रसों का सुख-दुःख के आधार पर विभाजन नाट्यदर्पण में ही हुआ है—

1. सुखदुःखस्वभावो रसः (अभिनवभारती 1)
2. रसा हि सुखदुःखरूपाः (श्रृंगारप्रकाश)

परन्तु रसों की यह उभयात्मकता परवर्ती आचार्यों को अमान्य रही और रसों की सुखात्मकता का ही प्रतिपादन हुआ है।

नाट्यदर्पण की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक दुर्लभ नाट्यसाहित्य के ग्रन्थों का नाम व उनसे उद्धरण दिये गये हैं जिनमें विशाखदत्तरचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक भी है। अतः नाट्यशास्त्र व नाट्यसाहित्य विषयक सूत्रनात्मक प्रधान 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ है।

9. वाग्भट (प्रथम)

गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य जैन विचारकों का ग्यारहवीं और बारहवीं शती में केन्द्र रहा है। हेमचन्द्र के समकालीन आचार्य वाग्भट हैं। काव्य-शास्त्र में इनकी कृति 'वाग्भटालंकार' है। वाग्भटालंकार की टीका में वाग्भट को 'महाकवि' और 'अलंकारकर्ता' कहा गया है।

यह ग्रन्थ विस्तृत विवेचनात्मक नहीं है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच परिच्छेद हैं। पूरे ग्रन्थ में 260 श्लोक हैं। अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रथम परिच्छेद में सर्वप्रथम काव्यलक्षण का निरूपण किया गया है। तदनन्तर काव्य हेतु विवेचित है। प्रतिभा काव्य का कारण है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उत्पादक हेतु हैं। द्वितीय परिच्छेद में भाषा के आधार पर काव्य के नाना भेदों का निरूपण है। इसी परिच्छेद में पद और वाक्यगत आठ दोषों का तथा अर्थ-दोषों का निरूपण है। तीसरे परिच्छेद में काव्यगत दश गुणों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में शब्दालंकारों तथा 35 अर्थालंकारों और वैदर्भी आदि रीतियों का निरूपण है। पाँचवें परिच्छेद में नौ रस तथा नायक-नायिकाओं का विवेचन है।

सभी उदाहरण स्वरचित हैं। यह एक सामान्य ग्रन्थ हैं परन्तु गुजरात में अत्यधिक लोकप्रिय था क्योंकि इस पर आठ टीकाओं का निर्देश मिलता है।

10. वाग्भट (द्वितीय)

वाग्भट (प्रथम) रचित 'वाग्भटालंकार' और वाग्भट (द्वितीय) रचित, 'काव्यानुशासन' में नामगत साम्य के आधार पर दोनों व्यक्ति एक नहीं, अपितु दोनों नितान्त भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं क्योंकि वाग्भट (द्वितीय) ने अपने ग्रन्थ में प्रथम वाग्भट का उल्लेख किया है। दूसरे दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से दोनों के भिन्न होने की स्पष्ट प्रतीति होती है।

'काव्यनुशासन' के रचयिता वाग्भट द्वितीय जैनी आचार्य हैं। इनके पिताश्री नेमकुमार थे तथा 'काव्यानुशासन' के अतिरिक्त 'ऋषभदेवचरित' और 'छन्दोऽनुशासन' नामक इनकी अन्य दो कृतियाँ प्रख्यात हैं।

'काव्यानुशासन' की स्वयं वाग्भट रचित' 'अलंकारतिलक' नामक टीका उपलब्ध है। यह सूत्रात्मक ग्रन्थ हैं। सूत्रों का प्रणयन गद्य में है तथा उदाहरण अधिकांशतः दूसरे ग्रन्थों से लिये गये हैं। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्य-हेतु कवि-समय तथा काव्य-लक्षण और उसके भेदोपभेदों का निरूपण है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने पदगत और वाक्यगत सोलह दोषों का तथा चौदह अर्थगत दोषों का विवेचन किया है। इसके अनन्तर इसी अध्याय में दण्डी सम्मत दश गुणों का निरूपण है। यद्यपि वाग्भट औज, माधुर्य और प्रसाद-तीन ही गुण मानते हैं। इसी में वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति का निरूपण है।

तृतीय अध्याय में तिरसठ अर्थालंकारों का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है। यह अध्याय इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वाग्भट ने कई नये अलंकारों की उद्भावना की है। जिनमें अपर, पूर्व, लेश, विहित, भाव और आशीः प्रमुख हैं।

चतुर्थ अध्याय में छः शब्दालंकारों का विवेचन है।

पाँचवें अध्याय में रस, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, नायक-नायिकाओं के प्रकार तथा रस-दोषों का विवेचन हुआ है।

वाग्भट ने काव्य-मीमांसा, काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थों को अपने निरूपण का आधार बनाया है।

वाग्भट ने मिश्र काव्य के अन्तर्गत दशरूपकों का विवेचन किया गया है। प्रथम वाग्भट का उल्लेख करते हुए वाग्भट (द्वितीय) तीन गुण मानते हैं।

'दण्डी-वामन वाग्भटादिप्रणीता दशकाव्यगुणाः। परन्तु माधुर्योजः प्रसादलक्षणां प्राचीनेवगुणान्, मन्यामहे' (काव्यानुशासनवृत्ति)

1200 ईस्वी से 1300 ईस्वी तक

1. शोभाकर मिश्रा, 2. जयदेव, 3. विद्याधर, 4. विद्यानाथ, 5. विश्वनाथ, 6. केशवमिश्रा

1. शोभाकर मित्र

शोभाकर मित्र की एकमात्र अलंकारों का विवेचन करने वाली कृति 'अलंकाररत्नाकर' है। अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रत्नाकर' नाम से शोभाकर मित्र के ही ग्रन्थ का उल्लेख किया है। अलंकारसर्वस्व की प्रख्यात टीका विमर्शिणी में जयरथ ने अनेकत्र इस ग्रन्थ की आलोचना की है। जयरथ का समय तेरहवीं शताब्दी है। अतः शोभाकर मित्र काश्मीरी आचार्य का समय इससे पूर्ण प्रमाणित होता हैं।

अलंकाररत्नाकर अलंकारों के विवेचन में उत्तम ग्रन्थ है। इसमें अचिन्त्य, अनुकृति, अवरोह आदि ऐसे अलंकार हैं जिनका वर्णन अन्यत्र अनुपलब्ध है। अलंकारों के काल-क्रम विकास में अलंकाररत्नाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रत्नाकरकार शोभाकार मित्र ने रुय्यक प्रतिपादित अनेक अलंकारों के लक्षणों का खण्डन किया है। जिसमें उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान् प्रमुख हैं।

'अलंकाररत्नाकर' की रचना सूत्रशैली में हुई है। सूत्रों के पश्चात् उसकी विस्तृत व्याख्या और व्याख्यानन्तर उदाहरण दिया गया है। शोभाकर के अनुसार काव्य का आत्मभूत तत्त्व रस है अतः चित्रादि अलंकारों से उसकी प्रतीति नहीं होती है इसलिये उसका अधिक प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है–

यथा–

'आश्चर्यकारितया चित्रं तच्चित्तम्' एतच्च काव्यात्मभूतस्य रसादेश्चर्वणप्रत्यूहकारितया न तथालंकारतां भजते शब्दाभिधेयादिमुखेन रसाद्युपकरणस्यैव मुख्यतयालंकारत्वादि ति चिरन्तनालंकारवन्न विभज्य लक्षितम्।

(सूत्र संख्या 8)

पक्षपातरहित तत्त्वानुसन्धान शोभाकर की अपनी विशिष्ट शैली है। भाषा सरल और प्रभावोत्पदक है। यथा 'सम्यक् स्वभाववर्णनं स्वभावोक्तिः' सूत्र 106

व्याख्या–

"द्विविधो वस्तुनः स्वभावः स्थूलः सूक्ष्मश्च तत्र कवितृमात्रगोचरः स्थूलः। तस्य वर्णने न कश्चिदलकारः। सर्वस्य काव्यस्य स्वभावोक्तिप्रसंगात्। सम्यग्वर्ण्यमानस्तु स्वभावः सूक्ष्मः। स तु महाकविगोचरः। तस्य सम्यग्वर्ण्यमानस्यान्यूनानतिरिक्तत्वेन स्वभावोक्तिः।"

'अलंकाररत्नाकर' के अन्त में शोभाकर मित्र ने अपने पिता का नाम श्रीवर्म प्रतिपादित किया है।

श्रीश्रीवर्मपुत्रेण प्रज्ञालववता मया।
रत्नाकराभिधः पोषेऽलंकारो लिखितः शुभः।।

2. जयदेव

अलंकारशास्त्र का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ जयदेव विरचित 'चन्द्रालोक' है। इस ग्रन्थ की उपादेयता अन्य प्रौढ़ ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है क्योंकि यह एक सरल, सुबोध प्रख्यात ग्रन्थ है।

जयदेव के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में प्रामाणिक संकेतों का अभाव है। जयदेव ने अपने ग्रन्थ में किसी आचार्य का उल्लेख नहीं किया है, अतः चन्द्रालोक की रचना का समय निश्चित करना और कठिन है। जयदेव ने मम्मट रचित 'काव्यप्रकाश' के काव्यलक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनःक्वापि" पर अवश्य अपनी विमति प्रकट की है।

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।

इस श्लोक में स्पष्ट रूप से मम्मट का ही संकेत है। अतः जयदेव मम्मट के अनन्तर हुये हैं। दूसरा तथ्य यह भी है कि रुय्यक रचित अलंकारसर्वस्व में सर्वप्रथम 'विचित्र' और 'विकल्प' नामक दो अलंकारों की उद्भावना मिलती है। इसके पूर्व 'विचित्र' और 'विकल्प' नामक अलंकारों का अलंकारशास्त्र में विवेचन नहीं मिलता है। चन्द्रालोक में उपर्युक्त दोनों अलंकारों का विवेचन है, अतः जयदेव रुय्यक (1200 ई.) पश्चात्वर्ती आचार्य हैं। जयदेव की रचनाओं से परवर्ती आचार्यों में, श्लोक उद्धृत करने वाले आचार्य विश्वनाथ हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में (4.3) में "कदली कदली करभः करभः" श्लोक उद्धृत किया है जो 'प्रसन्नराघव' का है। विश्वनाथ का समय चौदहवीं शती है। चन्द्रालोक पर सर्वप्रथम 'शरदागम' टीका मिलती है जो 1583 ई. में लिखी गई। अतः जयदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है।

संस्कृतसाहित्य में दो जयदेव उपलब्ध हैं। कुछ विद्वान् दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं, परन्तु अनतरंग प्रमाणों के आधार पर दोनों को एक स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं है। 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव' नामक नाटक के रचयिता जयदेव ने अपने पिता का नाम महादेव और माता का नाम 'सुमित्रा' बतलाया है–

'महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।।
(चन्द्रालोक 1.2)

'चन्द्रालोक' के अतिरिक्त यही तथ्य (1.14) 'प्रसन्नराघव' में भी उपलब्ध होता है।

द्वितीय जयदेव प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' नामक गीतकाव्य के प्रणेता हैं। 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव के पिता भोजदेव तथा माता रामा देवी थीं और ये बंगाल के किन्दुबिल्व ग्राम निवासी परम भक्त थे।

चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव का दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' था जिसका कथन स्वयं कृतिकार करता है।

'चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती"
(चन्द्रालोक 1.2)

जयदेव रचित 'प्रसन्नराघव' और 'चन्द्रालोक' दो प्रख्यात ग्रन्थ हैं। श्रीराम पर आधारित 'प्रसन्नराघव' एक सरस और उच्चकोटि का नाटक है। 'चन्द्रालोक' काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है।

'चन्द्रालोक' का विभाजन मयूखो में है। इसमें कुल दस मयूख हैं। समग्र ग्रन्थ की रचना अनुष्टुप छन्द में की गई है। 'चन्द्रालोक' की प्रियता का कारण इसकी सुन्दर स्पष्ट और सुगम शैली है। भाषा भी अत्यधिक रोचक और वर्णनानुकूल है। भाषा में सर्वत्र माधुर्य और प्रवाह है। सारे उदाहरण स्वयं जयदेव रचित हैं जो अत्यधिक सुगम सटीक और रोचक हैं।

चन्द्रालोक का प्रथममयूख 'वाग्विचार' से सम्बन्धित है। इसमें काव्य लक्षण, 'काव्यहेतु' (प्रतिभाव्युत्पत्ति-अध्याय) तथा शब्द के विविध प्रकारो (रुढ़-यौगिक योगरुढ़ि) का विवेचन है। द्वितीय मयूख में शब्द, अर्थ और वाक्यगत दोषों का सोदाहरण निरूपण है। तृतीय मयूख में 'लक्षण' नामक काव्यांग का निरूपण है। चतुर्थ मयूख में 'गुण निरूपण' (दशगुण) और पाँचवें में पाँच शब्दालंकारों तथा सौ अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। छठे में रस, भाव, रीति (गौड़ी, पांचाली और लाटी), पाँच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा) का विवेचन है। सातवें मयूख में व्यंजना और ध्वनिकाव्य के भेदों का तथा आठवें मयूख में गुणीभूतव्यंग्य काव्य के विविध प्रकारों का निरुपण है। नवम मयूख में लक्षणावृत्ति और दशम् में अभिधावृत्ति का विवेचन है।

जयदेव ने सामाजिक शैली को अपनाया है परन्तु वह बोझिल नहीं है। एक ही अनुष्टुप् छन्द में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिसमें जयदेव को अद्भुत अपूर्व सफलता मिली है। यह पद्धति ही चन्द्रालोक की सबसे बड़ी विशेषता है और लोकप्रियता का कारण भी है। विभावना अलंकार का स्पष्ट लक्षण देखिए–

'विभावना विनपि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।
पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम्।।
(चन्द्रालोक 5.77)

चन्द्रालोक में यत्र-तत्र होने वाली प्राचीन् आचार्यों के सिद्धान्तों की समीक्षा के सम्बन्ध में जयदेव का कथन है जिस प्रकार सुन्दर मृगनयनी के नयनों में काजल सुशोभित होता है उसी प्रकार मेरी समीक्षा भी सुन्दर ही लगेगी–

'नाशङ्कनीयमेतेषां मतमेतेन दूष्यते।
किन्तु चक्षुर्मृगाक्षीणां कज्जलेनेव भूष्यते।। (चन्द्रालोक 1.5)

'चन्द्रालोक' का अलंकार निरूपण इतना उपादेय और प्रिय प्रतीत हुआ कि प्रखर पाण्डित्य के धनी अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ से अलंकार भाग को ग्रहण कर और अपनी वृत्ति लिखकर ''कुवलयानन्द' की रचना की है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें हैं।

3. विद्याधर

विद्याधर के पूर्व समग्र काव्यचिन्तन की परम्परा राज्याश्रित प्रतीत नहीं होती क्योंकि आलंकारिकों ने या तो स्वरचित पद्यों को प्रस्तुत किया है या फिर महाकवियों के काव्य ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किया है। विद्याधर के कारण एक नयी प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है, और कुछ आलंकारिकों ने अपनी प्रतिभा का उपयोग राज–स्तुति, चाटुकारिता और अतिशयोक्ति में लगाया। अभिनवगुप्त के अनुसार समसामयिक जीवित राजा का वर्णन नहीं करना चाहिये क्योंकि राग, द्वेष और मध्यस्थता के कारण प्रीति और व्युत्पत्ति की प्राप्ति नहीं होगी–

'न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तः।
विनेयानां तत्र रागद्वेषमध्यस्थतादिना
तन्मयीभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात्।
वर्तमान चरिते च धर्मादिकर्म–
फलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोग वैयर्थ्यम्।।

(नाट्यशास्त्र 1.58 की व्याख्या)

परन्तु इस तथ्य का अतिक्रमण कर विद्याधर ने नाट्यशास्त्र व काव्यशास्त्र के तत्त्वों का निरूपण करते समय आश्रयदाता राजा का अतिशयोक्तिमय वर्णन किया जो बुद्धि को स्वीकार नहीं होता। यह चिन्तन स्वर्णपिंजर में बन्द हो गया, जिसका अनुकरण अनेक आलंकारिकों ने परवर्तीकाल में किया है।

दूसरी बात यह भी है कि काव्यशास्त्र का अभी तक चिन्तन प्रायः काश्मीर और गुजरात के अनहिलपट्टन में हो रहा था। विद्याधर से यह चिन्तन दक्षिण भारत में प्रवृत्त हुआ और चिन्तन का केन्द्र बदलने से प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हुआ।

'एकावली' के रचयिता विद्याधर ने समस्त उदाहरणों का निर्माण अपने आश्रयदाता राजा नरसिंह की स्तुति में किया है। यथा–

एवं विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मित लक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्।।

नरसिंह देव उत्कलाधिपति थे और इनका समय 1280 ई. से 1314 ई. तक माना जाता है। अतः विद्याधर का समय तेरहवीं शती का अन्तिम भाग और चौदहवीं शती का प्रारम्भिक भाग है।

एकावली की रचना कारिका, वृत्ति और उदाहरण शैली के आधार पर की गई है। इसमें आठ 'उन्मेश' हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य स्वरूप, द्वितीय में वृत्ति-निरूपण, तृतीय में ध्वनिकाव्य विवेचन, चतुर्थ में गुणीभूतव्यंग्यकाव्य, पाँचवें में गुण और रीति, छठे में दोष-दर्शन, सातवें में शब्दालंकार और आठवें में अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है।

'एकावली' के विवेचन का मुख्य आधार 'काव्यप्रकाश' और रुय्यक रचित 'अलंकारसर्वस्व' है। कुछ विद्वान् इसके उदाहरणों को छोड़कर उसे काव्यप्रकाश का संक्षिप्त रूप मानते हैं। अलंकारों के निरूपण में मम्मट की अपेक्षा रुय्यक प्रतिपादित अलंकारों का अनुकरण किया गा है।

शैली की दृष्टि में समग्र वाङ्मय 'प्रभुसंमित', 'मित्रसम्मित' और 'कान्तासम्मित' में विभाजित है। वेदादि ग्रन्थ प्रभुसंमित, पुराणादि मित्रसंमित और कान्तासम्मित के अन्तर्गत काव्यादि आते हैं। यथा–

'शब्दप्रधानं वेदाख्य प्रभुसंमितमुच्यते।
ईषत्पाठान्यथापाठे प्रत्यवायस्य दर्शनात्।
इतिहासादिकं शास्त्रं मित्रसंमितमुच्यते।
अस्यार्थवादरुपत्वात् कथ्यतेऽर्थप्रधानता।
ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासमितमीरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यञ्जनं प्रवण यँतः।।

(एकावली 1 4-6)

एकावली पर उपलब्ध एकमात्र टीका 'तरला' है। इसके रचयिता अनेक काव्यों के प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ हैं। 'तरला' एक आदर्श टीका है।

4. विद्यानाथ

विद्याधर की प्रवृत्ति को संवर्धित करते हुए विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का दक्षिण भारत में अत्यधिक प्रचार और सम्मान हुआ। इसकी लोकप्रियता का आन्ध्रप्रदेश के राजा प्रतापरुद्र और इसकी सरलशैली है। प्रतापरुद्र आन्ध्रप्रदेश के एक प्रख्यात शासक हुए। इनकी राजधानी 'एकशिला' (वारङ्गल) थी। इनके एक शिलालेख (1228-1317 ई.) के आधार पर विद्यानाथ का समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है।

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में काकतीय वंशनरेश प्रतापरुद्र का यशोगान है। ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक को भी जोड़ दिया गया है। विद्यानाथ ने स्वयं रचना के उद्देश्य का निरूपण करते हुए कहा है—

'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलंकारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तु वः।। (प्रतापरु. 1.9)

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में कुल नव प्रकरण हैं। इन प्रकरणों में 1. नायक, 2. काव्य, 3. नाटक, 4. रस, 5. दोष, 6. गुण, 7. शब्दालंकार, 8. अर्थालंकार और 9. मिश्रालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। विद्यानाथ ने मम्मट को आदर्श मानकर 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का सैद्धान्तिक प्रकरण लिखा है। 'चाटु श्लोकों' को छोड़कर अन्य बातें मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर हैं। अलंकार चिन्तन में रुय्यक से अधिक प्रभावित हैं।

काव्य से कर्तव्यबोध सरल और सरस है, अतः काव्य सर्वोपरि कविकृति है। उसका प्राणभूत तत्त्व रस है। गुण, अलंकार, वृत्ति, रीति आदि उसी से सम्बन्धित हैं। रसप्रधानाः शब्दार्था गुणालंकाररीतयः।

वृत्तश्यचेयतीशास्त्रप्रमेयं काव्यपद्धतिः।। 1.4

यह ग्रन्थ सूत्र, कारिका, वृत्ति और उदाहरण पद्धति को अपनाकर लिखा गया है।

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' पर कुमार स्वामी की प्रख्यात 'रत्नापण' टीका उपलब्ध है। कुमार स्वामी सुप्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ के पुत्र थे। यह टीका पाण्डित्यपूर्ण और सारगर्भित टीका है।

5. विश्वनाथ

अलंकारशास्त्र विषयक ग्रन्थों में विश्वनाथ विरचित 'साहित्यदर्पण' अत्यधिक प्रख्यात और लोकप्रिय ग्रन्थ है। विश्वनाथ कविराज सुप्रसिद्ध ब्राह्मणपरिवार के उच्च विद्वान् थे। साहित्यदर्पण के अनुसार (3.203) विश्वनाथ के वृद्धप्रपितामह का नाम नारायण और पिता का नाम चन्द्रशेखर था। चन्द्रशेखर महाकवि और विद्वान् थे। अन्तिम पद्य के अनुसार—

'श्रीचन्द्रशेखर महाकविचन्द्रसूनुः' उनके पिता कवित्वशक्तिसम्पन्न महाकवि थे।

साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद की पुष्पिका के अनुसार विश्वनाथ 'सान्धिविग्रहिक' अर्थात् विदेशमंत्री थे और 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' अर्थात् अट्ठारह भाषाओं के परिज्ञाता थे। विश्वनाथ कलिंग निवासी और बहुभाषाविद् विद्वान् थे।

विश्वनाथ के काल निर्धारण में कठिनाई नहीं है क्योंकि अनेक अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर उनके काल का निर्धारण सहज ही हो जाता है। साहित्यदर्पण के चतुर्थपरिच्छेद में

'अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः'' (सा. 4.14)

दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख हुआ है। अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल 1296 ई. से 1316 ई. तक रहा है। अतः विश्वनाथ का यही समय प्रतीत होता है। साहित्यदर्पण की हस्तलिखित प्रति जिसकी रचना 1384 ई. में हुई है, प्राप्त है। इससे स्पष्ट है कि साहित्यदर्पण की रचना 1384 ई. के पूर्व हुई होगी।

साहित्यदर्पण में जयदेव रचित 'गीतगोविन्द' का श्लोक उद्धृत हुआ है। जयदेव का समय बारहवीं शती का प्रथमार्थ भाग है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर विश्वनाथ को समय 1300 ई. से 1350 ई. के मध्य मानना तर्कसंगत है।

विश्वनाथ कविराज अनेक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण उनकी लेखिनी काव्य, नाटक टीका और अलंकारशास्त्र आदि प्रकार की विधाओं में समानरूप से प्रवाहित हुई है। उनकी निम्न कृतियाँ प्रख्यात हैं—

1. राघवविलास संस्कृत महाकाव्य।

2. कुवलयाश्वचरित—प्राकृतकाव्य।
3. प्रभावती परिणय—नाटिका।
4. चन्द्रकला—नाटिका
5. प्रशस्तिरत्नावली।
6. काव्यप्रकाशदर्पण—टीका।
7. साहित्यदर्पण—अलंकारशास्त्र।

विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण प्रसिद्धतम ग्रन्थ है। इसका विभाजन दस परिच्छेदों में है तथा इसमें काव्यप्रकाश और नाट्यशास्त्र के विषयों का विवेचन किया गया है।

साहित्य-दर्पण के प्रथम परिच्छेद में वाग्देवी की स्तुति के अनन्तर धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय को काव्य का प्रयोजन निरूपित किया गया है। काव्य-प्रयोजन के पश्चात् स्वनिर्मित सर्वथा निर्दुष्ट काव्य-लक्षण के पूर्व पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के काव्य-लक्षणों का खण्डन किया गया है। सबसे अधिक दोषोद्भावना मम्मट के काव्यलक्षण 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' पर की गई है। विश्वनाथ का मम्मट के प्रति विरोध-स्वर ही यहाँ प्रखर है, तात्त्विक विश्लेषण नहीं। सम्भवतः प्रकाश को दर्पण में प्रतिबिम्बित कर पाठक को आक्रान्त करने की कामना ही प्रमुख है। इसके बाद 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।। लक्षण प्रदान किया है।

द्वितीय परिच्छेद में वर्ण और पद के लक्षण के अनन्तर अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्याख्या, वृत्ति का विवेचन है।

तृतीय परिच्छेद में रस-निरूपण है। इस परिच्छेद का प्रारम्भिक भाग ग्रन्थ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। रस, रस का स्वरूप, रस की अलौकिकता, करुण रस का आस्वाद आदि विषय विवेचित हैं। तदनन्तर इसी परिच्छेद में नायक, नायिका भेदों का भी निरूपण है।

चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य काव्य का सोदाहरण प्रतिपादन तथा मम्मट अभिमत चित्रकाव्य का खण्डन किया गया है।

पञ्चम परिच्छेद में ध्वनि की स्थापना है। इसमें ध्वनिसिद्धान्त के सभी विरोधी मतों का तर्कपूर्ण खण्डन और ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन प्रतिपादित है। काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास के सदृश है।

षष्ठ परिच्छेद में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन है। सातवें में दोष, आठवें में गुण, नौवें में रीति तत्त्व तथा दसवें परिच्छेद में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है।

साहित्यदर्पण में सभी तत्त्व सरल और सुबोध शैली में प्रतिपादित किये गये हैं। आलंकारिक दृष्टि से विश्वनाथ को कथमपि मौलिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य नहीं माना जा सकता है। साहित्यदर्पण में ध्वन्यालोक, ध्वंन्यालोकलोचन, काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के निरूपण में नाट्यशास्त्र और दशरूपक को आधार बनाया गया है। अतः यह एक 'संग्रह ग्रन्थ' है और आचार्य विश्वनाथ द्वितीय कोटि के लेखक हैं। परन्तु यह ग्रन्थ अनेक गुणों से विभूषित होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसकी विवेचनात्मक शैली रोचक और सुबोध तथा गूढार्थ से रहित है। द्वितीय उत्कृष्ट गुण यह है कि इस ग्रन्थ की परिधि में अलंकार शास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के सभी तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। दण्डी, भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट प्रभृति आचार्यो के ग्रन्थों में केवल काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का ही उन्मेष हुआ है। नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रतिपादन इन लेखकों ने नहीं किया है। जबकि साहित्य-दर्पण में नाट्यतत्त्वों का सांगोपांग सविस्तर विवेचन है।

विश्वनाथ रसाग्रही आचार्य हैं। इसीलिये काव्य-लक्षण में रसपद का प्रयोग उन्हें अभिप्रेत है। रस-स्वरूप का विवेचन संग्रहात्मक होने पर भी उत्तम निरूपण का नमूना है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। (साहित्यदर्पण 3.3)

साहित्यदर्पण की अनेक टीकायें हैं। जिनमें रामचरण तर्कवागीश की टीका अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण है।

6. केशव मिश्र

'अलंकारशेखर' नामक ग्रन्थ के रचयिता केशव मिश्र ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है कि धर्मचन्द्र के पुत्र माणिक्यचन्द्र के आग्रह पर इन्होंने 'अलंकारशेखर' ग्रन्थ की रचना की। धर्मचन्द्र रामचन्द्र का पुत्र था। रामचन्द्र ने दिल्ली के काबिल राजा को परास्त किया था। माणिक्यचन्द्र कांगड़ा का राजा था और 1563 ई. में धर्मचन्द्र के पश्चात्, सिंहासनासीन हुआ था। अतः 'अलंकारशेखर' की रचना सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। केशव मिश्र का आश्रयदाता राजा माणिक्यचन्द्र था।

काव्यशास्त्र का 'अलंकारशेखर' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कारिका, वृत्ति और उदाहरण शैली में लिखा गया है। केशव मिश्र के अनुसार उन्होंने कारिकाओं की रचना भगवान् शौद्धोदनि नामक आलंकारिक के आधार पर की, परन्तु अलंकारशास्त्र में शौद्धोदनि का नाम अन्यत्र उपलब्ध नहीं है तथा इनकी किसी रचना का भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार 'अलंकारशेखर' में 'श्रीपाद' नामक आलंकारिक आचार्य का उल्लेख भी अन्यत्र अनुपलब्ध है। केशव मिश्र ने दण्डी के काव्यादर्श, राजशेखर की काव्यमीमांसा, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक तथा मम्मट रचित 'काव्यप्रकाश' को अपने विवेच्य को आधार बनाया है।

'अलंकारशेखर' आठ रत्नों और बाईस मरीचियों में विभाजित है। प्रथम मरीचि में काव्य का लक्षण निरूपित किया गया है, 'काव्यं रसादिमत् वाक्यम्''। इस लक्षण में रस को महत्त्व दिया है जिसे आगे काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार किया गया है। इसके अनन्तर काव्यहेतु का विवेचन है। अन्य मरीचियों का विषय क्रमशः इस प्रकार है। 2. वैदर्भी, गौड़ी और मागधी—तीन रीतियाँ, उक्तिप्रकार तथा मुद्रा के विभिन्न प्रकार वर्णित हैं। 3. शब्द की तीनों वृत्तियों—अभिधा-लक्षणा और व्यंजना का प्रतिपादन है। 4. पद के आठ दोष। 5. वाक्यगत बारह दोष। 6. अर्थगत आठ दोष। 7. शब्दगत पाँच संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि—गुणों का विवेचन है। 8. अर्थगत चार गुणों—भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति और सुधर्मिता का कथन 9. वैशेषिक गुण—अर्थात् जो दोष विशेष स्थल पर गुण बन जाते हैं। 10. आठ शब्दालंकार 11वें में 14 अर्थालंकार तथा उपमा के भेदोपभेद। 12. रूपक के उपभेद। 13. उत्प्रेक्षादि अलंकार। 14. नायकगत शारीरिक गुण। 15. कविसमय निरूपण। 16. राजा, रानी, प्रदेश, नगर, नग, नदी आदि वर्ण्यविषयों का प्रतिपादन। 17. प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं के रंगों का कथन। 18. एक से लेकर हजार तक की संख्या बताने वाली वस्तुओं के नाम। 19. समस्यापूर्ति 20. रस काव्य की आत्मा है—इसका प्रतिपादन तथा नौ रसों की विवेचना। इसी मरीचि में नायक और नायिका के भेद तथा विभिन्न भावों का निरूपण है। 21. रस दोष विवेचन तथा बाइसवें में रसानुकूल अक्षर विन्यास का निरूपण किया गया है।

केशव मिश्र में 'सुखविशेषकृत्' को काव्य और 'रस आत्मा' मानकर उसका निरूपण किया है। 'अलंकारस्तु शोभायै' अर्थात् शोभावर्धक तत्त्व अलंकार हैं। 'रसहानिकरः दोषः' होता है अतः उसका परित्याग अपेक्षित है। जिस प्रकार दुग्धरहित गाय, घन्टादि से सजी हुई होने पर उसका मूल्य अल्प ही होता है उसी प्रकार अलंकार से युक्त, गुणरहित रचना होती है।

'अलंकारसहस्त्रैः किं गुणो यदि न विद्यते।
विक्रीयन्ते न घन्टाभिर्गावःक्षीरविवर्जिताः।।'

इस प्रकार 'अलंकारशेखर' एक उपयोगी और कवि मार्ग प्रदर्शक ग्रन्थ है।

1300 ईस्वी से लेकर 1700 ईस्वी तक

काव्यशास्त्र के आचार्य

1. शारदातनय, 2. शिङ्गभूपाल, 3. भानुदत्त, 4. रूपगोस्वामी, 5. कवि कर्णपूर, 6. विश्वेश्वर, 7. अप्पयदीक्षित, 8. पण्डितराज जगन्नाथ।

1. शारदातनय

शारदातनय रचित 'भावप्रकाशन' नाट्यशास्त्रीय विषयों का निरूपण करने वाला एक प्रख्यात ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने अपने को शारदा देवी का पुत्र निरूपित किया है। इसी आधार पर वे अपने आपको शारदातनय कहने-लिखने लगें और इसी नाम से उनकी ख्याति हुई। परमयाज्ञिक लक्ष्मण ग्रन्थकार के प्रपितामह थे। शारदातनय ने अपना जन्मस्थान 'मेरूत्तर' बतलाया है। 'मेरूत्तर' के सम्बन्ध में अनेक धारणायें प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् आधुनिक मेरठ को ही 'मेरूत्तर' मानते हैं। भावप्रकाशन में ही 'माठरपूज्य' पद प्रयुक्त हुआ। यह दक्षिण भारत के कतिपय ब्राह्मणों में आज भी 'माटपूशि' गोत्र सूचक है। 'उत्तरमेरूर' चेंगलपट्ट जिले में एक स्थान है जो संभवतः 'मेरूत्तर' का ही परिवर्तित पद है। भाव-प्रकाशन की समस्त प्रतियाँ दक्षिणभारत में मिली अतः शारदातनय दक्षिणभारत की विभूति हैं।

शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' में मम्मट रचित 'काव्यप्रकाश' का उल्लेख किया है अतः मम्मट (ग्यारहवीं शती उत्तरार्ध) के अनन्तर शारदातनय का समय निश्चित है। चौदहवीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान (1320 ई.) शिंगभूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' में शारदातनय का उल्लेख किया है। अतः उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर शारदातनय का समय तेरहवीं शती का मध्यभाग प्रतीत होता है।

शारदातनय का 'भावप्रकाशन' श्रेष्ठ ग्रन्थ है। वे गीत, नृत्य, वाद्य आदि के पारंगत आचार्य थे। नाट्यपरम्परा का यह अद्वितीय रत्न है। भावप्रकाशन में पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों की कारिकायें अक्षरशः उद्धृत हैं। भावप्रकाशन में अनेक अज्ञात आचार्यों का उल्लेख मिलता है। वासुकि, नारद, व्यास आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार अनेक अनुपलब्ध रचनाओं का भी उल्लेख हुआ है।

'भावप्रकाशन' अधिकारों में विभक्त किया गया है। इसमें कुल दश अधिकार हैं। इनमें क्रमशः भाव, रसस्वरूप, रसभेद, नायक-नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थसम्बद्ध, नाट्येतिहास, दशरूपक, नृत्यभेद तथा अन्तिम अधिकार में नाट्य प्रयोग का वर्णन किया गया है। भाव तथा रस से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को सहज में निरूपित करने वाला यह एक विशाल ग्रन्थ है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय नाट्य के सन्दर्भ में इसमें उपलब्ध है। नाट्य-निरूपण में इसकी भूयसी उपयोगिता है।

शारदातनय का नाट्यशास्त्र की परम्परा में प्रमुख स्थान है। शारदातनय ने नाट्योत्पत्ति भरत प्रतिपादित ब्रह्मा से न मानकर शिव से मानी है। शिव का ताण्डव प्रख्यात है, परन्तु वे नटराज है। अतः लौकिक धारणा को आधार मानकर उसका निरूपण उनकी कल्पनाशक्ति का द्योतक है। ग्रन्थ का 'भावप्रकाशन' नाम रखने में भी उनकी स्वतंत्र चिन्तन शक्ति का परिज्ञान होता है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में भाव को सबसे अधिक महत्त्व शारदातनय ने प्रदान किया। रस की प्राप्ति का साधन 'भाव' है। रस यदि साध्य या उपेय है तो भाव 'साधन' या उपाय है; अतः उनका प्रामुख्य स्पष्ट है। यही ग्रन्थ के नाम की सार्थकता है। इनके निरूपण में उनकी मौलिकता भी है। यथा—

> 'पदार्थो वा क्रिया सत्ता विकारो मानसोऽथवा।
> विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनोव्यभिचारिणः।।
> सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा।।

अर्थात् भाव पाँच प्रकार हैं। पदार्थ, क्रिया, सत्ता, विकार और मानस ही क्रमशः विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव और सात्त्विकभाव से जाने जाते हैं।

रस की परिभाषा करते हुए लिखते हैं–

'मनसोह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः।।

अर्थात् मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले 'स्वाद' को ही 'रस' कहते हैं।

शारदातनय की विषय-प्रतिपादन शैली स्पष्ट, सुबोध और सरल है।

2. शिङ्गभूपाल

शिङ्गभूपाल रचित 'रसार्णवसुधाकर' नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला उपादेय ग्रन्थ है। शिङ्गभूपाल ने 'रसार्णवसुधाकर' के प्रारम्भ में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। इनका जन्म 'रेचल्ल' वंश में हुआ था। शिङ्गभूपाल आन्ध्रप्रदेश के राजा अन्नपोत के पुत्र थे। विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल पर्वत तक के भाग के ये अधिपति थे। रसार्णवसुधाकर की अधिकांश प्राचीन प्रतियाँ भी दक्षिणभारत में प्राप्त हुईं तथा इस ग्रन्थ का दक्षिण में प्रचुर प्रचार भी है। इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है।

'रसार्णवसुधाकर' तीन उल्लासों में विभक्त है।

1. रञ्जकोल्लास–इसमें नायक और नायिका के स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर उनके गुणों का सोदाहरण सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके बाद चारों वृत्तियों के स्वरूप तथा उनके प्रभेदों का प्रतिपादन है।
2. रसिकोल्लास–इसमें रस का सांगोपांग विशद विवेचन है।
3. भावोल्लास–इस उल्लास में कथावस्तु का विस्तृत विन्यास है।

इस प्रकार दश-रूपक के 'वस्तु नेता रसस्तेषा हि भेदकः' अर्थात् दशरूपकों का एक दूसरे से भिन्नत्व प्रतिपादित करने वाले तत्त्व वस्तु, नेता और रस हैं। शिङ्गभूपाल ने उपर्युक्त तत्त्वों को ग्रहण कर नेता को प्रथम स्थान दिया, क्योंकि वह नायक है और नायक का सामान्य तत्त्व 'कथां नयति इति नायकः'' अर्थात् नायक कथा को लेकर चलता है। अतः नेता (नायक) का विवेचन प्रथम उल्लास (रञ्जकोल्लास) तथा रस का विवेचन द्वितीय उल्लास (रसिकोल्लास) में है। रस की अनुभूति रसिक को ही होती है। उसका माध्यम विभवादि है। अतः रस का द्वितीय उल्लास में विवेचन है। भावोल्लास में कथावस्तु है।

शिङ्गभूपाल की लेखनशैली सरल और सरस है। प्रत्येक वर्णन रोचक तथा विशद है। उदाहरण सुबोध है। विषयों का विवेचन तर्कसंगत और युक्तिपूर्ण है। शिंगभूपाल कवित्वशक्ति तथा शास्त्रचिन्तन से परिपूर्ण विदग्ध थे।

''रसार्णवसुधाकर'' का मुख्य आधार नाट्यशास्त्र है परन्तु धनञ्जय की कारिकायें भी सम्मिलित कर ली गई हैं। जैसे–

'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः।। (रसा. 1.59, दश. 4.1)

'वैदग्धरचनाप्रपंचरसिक' शिंगभूपाल का यह ग्रन्थ–लक्षण निरूपण में अनुपम है। यथा

'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्त्वभिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोचयते।। 1.18।

यद्यपि रसार्णवसुधाकर में प्रतिपादित विषयों को प्रतिपादन नाट्यशास्त्र, दशरूपक तथा भावप्रकाशन आदि ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में हुआ है तथा ग्रथनकौशल के कारण सभी तत्त्व रसार्णवसुधाकर में नवीन से प्रतीत होते हैं। शिंगभूपाल इस तथ्य से अवगत थे–

त एव पदसंघातास्ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रन्थनकौशलात्।। 1.242

उदाहरण प्रायः कवियों के हैं कहीं कहीं 'ममैव' लिखकर स्वनिर्मित उदाहरण भी उपन्यस्त हैं। इन उदाहरणों में कवित्वशक्ति के साथ साथ सुबोधता गुण का प्राधान्य है। यथा–

'चाटुप्रायोक्तिरालापः–

यथा ममैव–

'करते वाक्यामृतं त्यक्त्वा शृणोत्यन्यगिरं बुधः।
सहकारफलं त्यक्त्वा निम्बं चुम्बति किं शुकः।। (रसा. 1.134)

विद्वत्प्रसादन उद्देश्य को लेकर रसार्णवसुधाकर की रचना की गई है (1.44)

इन कथन में निःसन्देह शिङ्गभूपाल को सफलता मिली है। सारैकग्रहण में तत्पर विद्वानों को इस कृति से आनन्द प्राप्त होगा–

'तस्मादस्मत्प्रयत्नोऽयं तत्प्रकाशनलक्षणः।
सारैकग्रहिणां चित्तमानन्दयति धीमताम्।। (रसा. 1.54)

शिङ्गभूपाल के ही आश्रय में रहकर विश्वेश्वर ने 'चमत्कारचन्द्रिका' की रचना की है।

(3) भानुदत्त

भानुदत्त काव्यशास्त्र के नायक-नायिका भेदों के लिए प्रख्यात आचार्य हैं। 'रसमंजरी' के अन्तिम पद्य में उन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है–

'तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणिः
देशो यस्य विदेहभूसुरसरित्कल्लोलकीर्मीरितां।

उपर्युक्त श्लोक के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भानुदत्त 'विदेहभूः' अर्थात् मिथिला के रहने वाले थे और इनके पिता का नाम गणेश्वर था। 'विवाद-रत्नाकर' के लेखक चण्डेश्वर ने स्वयं को गणेश्वर का पुत्र निरूपित किया है। चण्डेश्वर ने 1315 ई. में स्वर्ण से अपना तुलादान करवाया था। इसलिये भानुदत्त का समय तेरहवीं शती का अन्तिम भाग और चौदहवीं शती का प्रारम्भिक भाग परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर 'विकास' नामक टीका के रचयिता आचार्य गोपाल (1428 ई.) का समय पन्द्रहवीं का प्रथम भाग है। अतः भानुदत्त इसके पूर्व ही रहे होंगे।

भानुदत्त रचित निम्न ग्रन्थ हैं।

1. रसमंजरी।
2. रसतरंगिणी।
3. अलंकारतिलक।
4. गीतगौरीपति।

भादुदत्त के ग्रन्थों में रसमंजरी' सबसे अधिक प्रख्यात है। इसमें नायिका के प्रभेदों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त नायक-भेद नायक के मित्र आठ प्रकार के सात्त्विकभाव और शृंगार रस के दोनों भेद तथा दश अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इसकी लोकंप्रियता का इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि रसमंजरी की अनेक टीकायें उपलब्ध हैं। जिनमें नागेशभट्ट और अनन्तपण्डित कृत टीकायें उत्तम एवं पाण्डित्यपूर्ण हैं।

भानुदत्त रचित 'रसतरंगिणी' द्वितीय ग्रन्थ हैं। इसमें रस का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस-तरंगिणी आठ तरंगों में विभक्त है। इन आठ तरंगों में भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, व्यभिचारीभाव, शृंगार-रस, हास्य और अन्यरस, स्थायीभाव आदि का सुन्दर विवेचन है। रस-विरोध की चर्चा भी उपलब्ध है।

भानुदत्त आचार्य के साथ कवि भी थे। अतः अधिकांश उदाहरण भानुदत्त रचित ही दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

'अलंकारतिलक' पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्देद का प्रारम्भ वाराहावतार की स्तुति से होता है। रस आत्मा है, काव्यशरीर है, गति, रीति, वृत्ति, दोषराहित्य, गुण और अलंकार इन्द्रियाँ हैं। व्युत्पत्ति प्राण तथा अभ्यास मन है। काव्य उत्तम, मध्यम और अधम–तीन प्रकार का होता है। शब्द-अर्थ वृत्ति विवेचन भी इसी में है।

द्वितीय परिच्छेद में पद, वाक्य और वाक्यार्थ से सम्बन्धित दोषों का निरूपण है। तृतीय परिच्छेद में बाह्य, आन्तर और वैशेषिक तीन प्रकार के गुणों का विवेचन है। चतुर्थ परिच्छेद में अलंकार लक्षण और शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है। पंचम परिच्छेद में अर्थालंकार का विवेचन है।

'गीतगौरीपति' जयदेव रचित 'गीतगोविन्द' के आधार पर लिखा गया गेय, सरस काव्य है।

भानुदत्त के आलंकारिक चिन्तन में सरस्वतीकण्ठाभरण और काव्यप्रकाश का प्रभाव परिलक्षित होता है। गद्य और पद्य—दोनों की भाषा सरल है। यथा—

'उरः स्फुरदलंकारचमत्कारपटुश्रियः।
तनोति तिलकं भाले भारत्या भानु सत्कविः।। (अलंकारतिलक 1.1)

'अथ रसा आत्मनः। तेषां शरीरं काव्यम्। तस्य गतिरीतिवृत्तिदोषतदभावगुणालंकारा इन्द्रियाणि। व्युत्पत्त्रयः प्राणः। अभ्यासो मन इति"। (अलंकारतिलक 1.1)

4. रूपगोस्वामी

'चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित भक्ति-गंगा का प्रवाह केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उसने अपने प्रवाह से भारत के अधिकांश भागों को प्रभावित किया। चैतन्य महाप्रभु की भक्ति-धारा से प्रभावित होकर अनेक मनीषी उस ओर आकृष्ट हुए तथा कृष्ण को परमोपास्यदेव मानकर, वैष्णव कल्पनाओं के आधार पर रस-विवेचन में भी प्रवृत्त हुए। चैतन्य प्रवर्तित आन्दोलन से प्रभावित आचार्यो में रूपगोस्वामी का स्थान सर्वोपरि है।

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्यों में प्रमुख थे। रूपगोस्वामी रचित 'विदग्धमाधव' की रचना 1550 ई. में हुई। तथा 'उत्कलिकावल्लरी' की रचना 1500 ई. में हुई अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर रूपगोस्वामी का समय पन्द्रहवी शती का अन्तिमभाग तथा सोलहवीं शती का प्रारम्भिक भाग सुनिश्चित है।

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के साथ कृष्ण भक्तिधारा में संकीर्तन करते रहे। फिर चैतन्य महाप्रभु के आदेश से ही बंगाल को छोड़कर वृन्दावन में आकर रहने लगे। रूपगोस्वामी के कारण वृन्दावन को साहित्य और साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ।

रूपगोस्वामी की अनेक रचनायें हैं, जिनमें साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित निम्न तीन रचनायें हैं।

1. नाटकचन्द्रिका।
2. भक्तिरसामृतसिन्धु।
3. उज्ज्वलनीलमणि।

'नाटकचन्द्रिका' में नाटक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। इसकी रचना का आधार भरतकृत नाट्यशास्त्र और शिङ्गभूपाल विरचित 'रसाणवसुधाकर' है। इसमें नाट्य के अंग, अर्थोपक्षेपक, वृत्ति तथा वृत्तियों का रसानुसार प्रयोग वर्णित है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' एक अनुपम ग्रन्थ है। चैतन्य सम्प्रदाय में इस ग्रन्थ का साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। इस ग्रन्थ का विभाजन दिशाओं पर आधारित है। अतः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर—इन चार विभागों में विभक्त है। पुनः इनका विभाजन लहरियों में किया गया है।

पूर्व विभाग की प्रथम लहरी में भक्ति का सामान्य लक्षण प्रतिपादित है। दूसरी, तीसरी तथा चौथी लहरी में भक्ति के तीनों भेदों साधनभक्ति, भावभक्ति, तथा प्रेमाभक्ति का वर्णन किया गया है।

दक्षिण विभाग की लहरियों में विभावों, अनुभावों सात्त्विकभावों, व्यभिचारीभावों तथा स्थायीभावों का प्रतिपादन है।

पश्चिम विभाग में भक्तिरस के विशिष्ट भेदों का रुचिकारी वर्णन है। इसमें शान्तभक्तिरस, प्रीतिभक्तिरस, प्रयोरस, वत्सलभक्ति रस तथा मधुरभक्ति रस का निरूपण उपलब्ध है।

उत्तर विभाग और इसकी लहरियों में हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों का वर्णन तथा रसों के विरोधाविरोध की सांगोपांग चर्चा है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में 'भक्तिरस' को ही सर्वश्रेष्ठ और मूलरस सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। धार्मिक क्षेत्र से प्रभवित साहित्यिक क्षेत्र में 'भक्ति को रस मान कर उसका विस्तृत विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य रूपगोस्वामी और उनका ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' है। रूपगोस्वामी के पूर्व भक्ति को देवादिविषयरति के रूप में भावों में परिगणित की गई है। किन्तु रूपगोवामी ने भक्तिरस को सर्वश्रेष्ठ रस मानकर उनका सविस्तार विवेचन किया। श्रीकृष्णविष्यक रति एकभाव नहीं अपितु पूर्णरस है। यह एक स्वतंत्र रस है क्योंकि श्रीकृष्ण देव नहीं साक्षात् भगवान् हैं। देवताविषयक रति अवश्य ही भाव है।

रूपगोस्वामी का चिन्तन प्रखर और सयुक्तिक है और यह भक्तिरस का महनीय ग्रन्थ है।

'उज्ज्वलनीलमणि'' एक प्रकार से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का पूरक ग्रन्थ है। 'उज्ज्वल' पद का अर्थ शृंगार है। भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है—उज्ज्वलवेषात्मकः, यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत् (शृंगारेणोपमीयते''—नाट्यशास्त्र-6 अ.)

अतः इसमें मधुरशृंगार की विस्तृत विवेचना की गई है। भक्तिरस का स्थायीभाव मधुरा रति है और जब यह मधुरा रति विभावादि के द्वारा आस्वाद की स्थिति में पहुँच जाती है, तब इसे मधुर भक्तिरस कहते हैं। इसमें नायक के प्रकार, नायक के सहायक, दूती तथा श्रीकृष्ण के सखाओं का वर्णन है।

'उज्जवलनीलमणि' की प्रमुख विशेषता यह है कि भक्तिरस का सविस्तार विवेचन तथा सभी उदाहरण श्रीकृष्ण विषयक प्रदान किये गये हैं।

जीवगोस्वामी रचित 'लोचनरोचनी' उज्ज्वलनीलमणि का प्रख्यात टीका है। जीवगोस्वामी बहुश्रुत विद्वान् दर्शन, साहित्य, भक्ति आदि से परिपूर्ण आचार्य थे। दूसरी टीका 'आनन्दचन्द्रिका' है। इसके रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती गौडीय सम्प्रदाय'' के प्रतिष्ठित विद्वान् थे।

भक्तिरस को 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय रूपगोस्वामी को है। इसके अनन्तर अनेक चिन्तकों ने भक्ति को प्रमुख रस मानकर उसका शास्त्रीय रूप प्रतिपादित किया है। श्रीकृष्ण तो 'अखिलरसामृतमूर्ति' हैं।

5. कवि कर्णपूर

चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन से समस्त बंगाल आलोकित हो रहा था। अनेक विद्वान् उनके शिष्य बनकर श्रीकृष्ण का सुयश वितरित करने के लिए काव्यरचना में प्रवृत्त हुए। कवि कर्णपूर के पिता शिवानन्द चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे। शिवानन्द के पुत्र का बाल्यकालीन नाम परमानन्ददास सेन था, जो साहित्यिक जगत् में 'कवि कर्णपूर' के नाम से विख्यात हुए।

बंगाल के नदिया जिले में सन् 1528 ई. में कवि कर्णपूर का जन्म हुआ और 1572 ई. में इन्होंने महाप्रभु चैतन्य के जीवन पर 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक प्रख्यात नाटक की रचना की। अतः कवि कर्णपूर का समय सोलहवीं शती है।

साहित्यशास्त्र पर कवि कर्णपूर का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकारकौस्तुभ' है। इसका विभाजन किरणों में किया गया है। इन दशकिरणों में क्रमशः 1. काव्यलक्षण, 2. शब्दशक्तिविवेचन, 3. ध्वनिकाव्य, 4. निरूपण, 5. गुणीभूतव्यंग्यकाव्य-विमर्श, 6. रसभावभेदप्रतिपादन, 7. गुण, 8. शब्दालंकार, 9. अर्थालंकार, 10. रीति तथा दोषों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ के अधिकांश उदाहरण श्रीकृष्णपरक हैं जिनमें बहुविध वैविध्य सर्वत्र परिलक्षित होता है।

अलंकारकौस्तुभ में प्रायः काव्यशास्त्रीय सभी तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। प्रारम्भ में चैतन्य महाप्रभु की स्तुति है—

> 'स्वानंन्दरससतृष्णः कृष्णचैतन्यविग्रहो जयति।
> आपरमपि कृपया सुधया स्नपयाम्चभूव भूमौ यः।।

काव्य के शब्दार्थ शरीर है ध्वनि प्राणतत्त्व, रस आत्मतत्त्व माधुर्यादिगुण तत्त्व है—

> शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसवः आत्मा किल रसो।
> गुणा माधुर्याद्या उपमिति मुखोऽलंकृतिगणः।।

काव्य का लक्षण मम्मट (विलक्षणा तु कविराड्निर्मितिः' मंगलश्लोकवृत्ति) के अनुसार है—

> 'कविवाड्निर्मितिः काव्यम्। असाधारणचमत्कारकारिणी रचना हि निर्मितिः।

कर्णपूर के अनुसार 'प्राक्तनसंस्कारविशेषबीज ही प्रतिभा है और यही काव्यकारण है। यह 'निर्मातृमूल (कारयित्री) और स्वादकमूल (भावयित्री) बीज होता है—

> सबीजो कविर्ज्ञेयः।
> बीजं प्राक्तनसंस्कारविशेषः काव्यरोहभूः।
> रोहश्च द्वेधा निर्मातृमूलः स्वादकमूलश्च।
> यं विना निर्मातुं स्वादयितुञ्च न शक्यते।

'अलंकारकौस्तुभ' में श्रीमद्भागवत को ग्रन्थरत्न, शब्दब्रह्म निरूपित किया गया है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण का लोकमोहन रूप अभिव्यक्त हुआ है।

शिवपार्वती का सम्भोग वर्णन 'कुमारसम्भव' में अनौचित्यपूर्ण है, क्योंकि दोनों देवकोटि के हैं परन्तु राधामाधव की ललित शृंगारिक चेष्टायें वर्ण्य हैं क्योंकि वे सर्वेश्वर हैं, देवकोटि के नहीं—

'उत्तमदेवताऽऽदीनां पार्वतीपरमेश्वादीनां शृङ्गारवर्णनञ्च न कार्यम्। यत्तु श्रीकालिदासादिभिरतद् दुष्टम्। तद् वर्णनं हि स्वपित्रोः शृंगारवर्णनमिव। एवं श्रीकेशवयोरपीति केचित्तु वर्णयन्ति, तयोरीश्वरत्वाद् देवतात्वं नेति...। राधामाधवयोस्तु वर्णनीयमेव सर्वेश्वरत्वेन देवतात्वाभावात्।। (दशम किरणे)

अपने इस कथ्य को प्रमाणित करने के लिये श्रीमद्भागवत् का श्लोक उद्धृत करते हैं, जो विधिवाक्य है—

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः।

श्रद्धाऽन्वितोऽनु श्रुणुयादथवर्णयेद् यः।। (श्रीमद्भागवत।0.33.36)

नन्दनन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र सम्बन्धित रस अप्राकृत है।

कवि कर्णपूर रचित वृत्ति के अतिरिक्त स्वयं की टीका भी है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर अन्य अनेक टीकायें हैं।

6. विश्वेश्वर

विश्वेश्वर रचित 'चमत्कारचन्द्रिका' एक नवीन तथ्य पर आधारित उच्चकोटि का ग्रन्थ है। विश्वेश्वर कविचन्द्र रेचर्लवंशीय राजा सिंगभूपाल की सभा के प्रमुख रत्न थे। चमत्कारचन्द्रिक की पुष्पिकाओं में तथा अनेक श्लोकों में इस तथ्य का निरूपण किया है।

1. देवो रेचर्लवंशे विहरति भगवान् सिंगभूपालमूर्तिः।
2. शत्रूच्छेदनव्यसनकुशलो भाति रेचर्लवंश्यः।।

'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ के रचयिता शिंगभूपाल का समय 1390 ई. से 1400 ई. तक माना जाता है। अतः विश्वेश्वर कविचन्द्र का भी यही समय है।

विश्वेश्वर कविचन्द्र रचित 'चमत्कारचन्द्रिका' के उदाहरण शिंगभूपाल की प्रशंसा में लिखे गये हैं। कवि स्वयं कहता है—

'अहो साहित्यसौभाग्यं श्रीसिंगधरणीपतेः।

श्लाघायै यस्य सन्नद्धा वाचो विश्वेश्वरस्य मे।।

विद्याधर प्रणीत 'एकावली' से एक नयी परम्परा प्रारम्भ होती है जिसमें आचार्य अपनी समस्त प्रखर प्रतिभा का सदुपयोग आश्रयदाता राजा के गुणानुवर्णन में लगता है। विश्वेश्वर कवि चन्द्र ने भी यही किया, शिंगभूपाल की चाटुकारिता में 'चमत्कार चन्द्रिका' की रचना की।

चमत्कारचन्द्रिका का विभाजन विलासों में है। इसमें कुल आठ विलास हैं। प्रथम विलास में काव्य-प्रयोजन, चमत्कार लक्षण, चमत्कार कारण, वाग्विभाग, वर्णफल, दोष लक्षण और पन्द्रह पद दोषें का विवेचन है। द्वितीय विलास में वाक्य-लक्षण तथा तेरह वाक्य दोषों का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय विलास का नाम 'गुण-दोष प्रबन्धविवेक' है। इसमें अर्थविवाद, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का कथन, सोलह अर्थदोषों का निरूपण, काव्यलक्षण तथा चमत्कारी, चमत्कारितर और चमत्कारितम-काव्य-त्रैविध्य का निरूपण करने के अनन्तर गद्य, पद्य और चम्पू काव्य का विवेचन है।

चतुर्थ विलास में गुण-विवेक प्रस्तुत किया गया है। गुणलक्षण तथा तेईस प्रकार के गुणों का विवेचन, रीतितत्त्व, वृत्ति-विवेक, पाक-विवेक और शय्याविवेक किया गया है। पाँचवें विलास में रस-विवेक प्रस्तुत किया गया है। छठे विलास में अलंकारलक्षण ओर ग्यारह शब्दालंकारों का विवेचन है। सातवें विलास में बीस अर्थालंकारों का तथा आठवें विलास में चौबीस उभयालंकारों का विवेचन किया गया है।

चमत्कारचन्द्रिका एक उपयोगी ग्रन्थ है। विशेष प्रकार का चमत्कार ही काव्य है। इस चमत्कृति का सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचन 'चमत्कारचन्द्रिका' में ही उपलब्ध है। नाट्य अथवा काव्य में अनुभव होने वाली अनुभूति के लिये अभिनवगुप्त ने अनेक स्थानों पर 'चमत्कार' अथवा 'चमत्कृति' पद का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में चमत्कार के दशभेदों का

निरूपण सोदाहरण किया है। परन्तु चमत्कार की दृष्टि से काव्य का पूर्ण विवेचन विश्वेश्वर से हुआ। यद्यपि विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में नारायण के मन्तव्य के अनुसार काव्य का प्राणतत्त्व चमत्कार है और यह चमत्कार अद्भुत रस में सर्वाधिक होता है अतः अद्भुत ही सर्वश्रेष्ठ रस है—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।। (सा.द. तृतीय परिच्छेद)

सम्भवतः विश्वेश्वर के निरूपण से प्रभावित होकर ही प्रभाकर ने अपने 'रसप्रदीप' में काव्य का लक्षण—'चमत्कारविशेषकारित्वम्' किया है। विश्वेश्वर के अनुसार—

चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्''

इस चमत्कार की अभिव्यक्ति के गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार-कुल सात कारण हैं—

गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।।

इन सातों की तुलना कविचन्द्र ने सप्ताङ्गसम्पन्न साम्राज्य से की है, तभी काव्य परिपूर्ण होगा—

'सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते।'

पंचम विलास में केवल आठ ही रसों का प्रतिपादन किया गया है। शिव की अष्टमूर्ति प्रख्यात है। उसी आधार पर आठ ही रस होते हैं—

'शिवोरस' इति प्रोक्तरसत्यं भावकसत्तमैः।
न चेल्लोकोपकाराय कथमस्याष्टमूर्तिता।।

इसमें भारताभिमत आठ रस हैं। शान्त रस का विवेचन नहीं किया गया है।

चमत्कारयुक्त शब्दार्थ काव्य है—

'वागर्थौ स चमत्कारौ काव्यम्'' (प्रथमविलास)

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि कवियों की कृतियों का उल्लेख किया है। भोजराज ने स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति में वाङ्मय का विभाजन किया था। उसी आधार पर विश्वेश्वर ने भी प्रतिपादित किया—

'चिरं जीवतु वक्रोक्तिस्स्वभावोक्तिश्च तिष्ठतात्।
रसोक्तेरेव काव्यानि ग्राह्याणीति मतिर्मम।। (चमत्कार चन्द्रिका पंचम विलास)

विश्वेश्वर को 'चमत्कार' के प्रतिपादन में अवश्य सफलता मिली है परन्तु गुण, अलंकार आदि के विवेचन प्रौढ़ता का अभाव है। परम्परा से प्राप्त गुण, अलंकार, रीति आदि तत्त्वों की संख्या में न्यूनाधिक्य का वर्णन तो किया गया है, परन्तु उनकी उपस्थापना में तर्क को आधार नहीं बनाया गया है।

7. अप्पयदीक्षित

दक्षिण भारत की विभूतियों में अप्पयदीक्षित का प्रमुख स्थान है। अप्पयदीक्षित बहुमुखी विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे।

अप्पयदीक्षित ने वेङ्कटपति के अनुरोध पर 'कुवलयानन्द' की रचना की थी। यथा—

'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधि कृपानिधेः।।

ये वेङ्कट विजयनगर के राजा वेङ्कट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनका एक दान पात्र 1601 ई. का है। साथ ही अप्पयदीक्षित ने एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि आलंकारिक ग्रन्थों से उद्धरण दिया है। अतः अप्पयदीक्षित का समय सोलहवीं शती का अन्तिम भाग और सत्रहवीं शती का प्रारम्भिक भाग माना जाता है।

अप्पयदीक्षित रचित ग्रन्थों की संख्या सौ से भी अधिक हैं वर्गीकरण की दृष्टि से अप्पयदीक्षित रचित अद्वैतवेदान्त-विषयक, भक्ति-विषयक, विशिष्टाद्वैतवेदान्त-विषयक (रामानुज मत-विषयक) मध्वमतानुसारी ग्रन्थ, व्याकरण विषयक, पूर्व मीमांसा-शास्त्र-विषयक

और अलंकारशास्त्र विषयक ग्रन्थ है। इनमें अद्वैतवेदान्त विषयक ग्रन्थों का प्राचुर्य है। भक्तिविषयक ग्रन्थों में शिव, आदित्य आदिदेव-विषयक स्तुतियों की प्रधानता और लघु ग्रन्थ हैं। अलंकारशास्त्र से सम्बन्धित निम्न तीन ग्रन्थ हैं।

1. वृत्तिवार्तिक।
2. चित्रमीमांसा।
3. कुवलयानन्द।

'वृत्तिवार्तिक' शब्दभक्ति विवेचन से सम्बन्धित ग्रन्थ है। उसमें दो परिच्छेद हैं। सर्वप्रथम अभिधाशक्ति के तीन प्रकारों रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि का विवेचन है। इसके अनन्तर लक्षणाशक्ति का विवेचन है। वृत्तिवार्तिक में केवल दो ही वृत्तियों अभिधा और लक्षणा का विवेचन किया गया है। यह एक लघु ग्रन्थ है, जो सम्भवतः अधूरा है।

'चित्रमीमांसा' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और प्रौढ़ रचना है। 'चित्रमीमांसा' के प्रारम्भ में अप्पदीक्षित ने ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य ओर चित्रकाव्य का संक्षिप्त विवेचन किया है। शब्दचित्र में रमणीयता न होने के कारण केवल अर्थचित्रों (अर्थालंकारों) का ही सोदाहरण तथा भेदोपभेद सहित वर्णन किया गया है।

'चित्रमीमांसा' भी अधूरा ही लिखा गया क्योंकि इसमें केवल अतिशयोक्ति अलंकार तक का ही वर्णन प्राप्त है, परन्तु इस ग्रन्थ में एक ऐसी कारिका उपलबध है जिससे परिज्ञात होता है कि ग्रन्थकार अप्पयदीक्षित ने जानबूझकर इस ग्रन्थ को अधूरा छोड़ दिया है–

'अप्पयर्धचित्रमीमांसा न मुदेकस्य मांसला।
अनूरुरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः।।

अप्पयदीक्षित उपमा अलंकार को सबसे अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण अलंकार मानकर उसके बाईस भेदों की विवेचना करते हैं। इसमें उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है।

'कुवलयानन्द' अलंकार निरूपण में सुन्दर ग्रन्थ है। जयदेव रचित 'चन्द्रालोक' पर यह समस्त ग्रन्थ आधारित है। 'चन्द्रालोक' के ही लक्षण और उदाहरण लेकर उनका विवेचन तथा कतिपय नये अलंकारों का भी प्रतिपादन है जो 'चन्द्रालोक' में उपलब्ध नहीं है–

'एषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्षलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव च तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते।।

अप्पयदीक्षित उच्चकोटि के चिन्तक तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। परवर्ती समसामयिक जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित की कटु आलोचना की है। 'चित्रमीमांसाखण्डन' इसी आधार पर आधारित ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के लिए 'द्रविडपुंगव' 'दीर्घश्रवस' आदि व्यंग्यात्मक पदों का प्रयोग किया है। अप्पयदीक्षित उच्चकोटि के दार्शनिक और भक्तशिरोमणि थे।

8. जगन्नाथ

काव्यशास्त्र पर अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ पण्डितराज जगन्नाथ प्रणीत 'रसगंगाधर' है। काव्यशस्त्र के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध अन्तिम प्रौढ़ रचना 'रसगंगाधर' है और जगन्नाथ अन्तिम प्रकाण्ड प्रतिभा सम्पन्न आलंकारिक हैं। 'रसगंगाधर' का महत्त्व इसी से लगाया जा सकता है कि यह प्रथम पंक्ति का ग्रन्थ है अर्थात् जो महत्त्व आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' और मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' को प्राप्त है, वही रसगंगाधर का महत्त्व है। जगन्नाथ यद्यपि आधुनिक ग्रन्थकार और चिन्तक हैं तथापि संस्कृत पर उनका अद्भुत आधिपत्य है।

कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के धनी पण्डितराज जगन्नाथ का स्वयं निम्न कथन सत्य है–

निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
करतूंरिका जननशक्तिभृता मृगेण।।

निरूपण सोदाहरण किया है। परन्तु चमत्कार की दृष्टि से काव्य का पूर्ण विवेचन विश्वेश्वर से हुआ। यद्यपि विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में नारायण के मन्तव्य के अनुसार काव्य का प्राणतत्त्व चमत्कार है और यह चमत्कार अद्भुत रस में सर्वाधिक होता है अतः अद्भुत ही सर्वश्रेष्ठ रस है—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।। (सा.द. तृतीय परिच्छेद)

सम्भवतः विश्वेश्वर के निरूपण से प्रभावित होकर ही प्रभाकर ने अपने 'रसप्रदीप' में काव्य का लक्षण—'चमत्कारविशेषकारित्वम्' किया है। विश्वेश्वर के अनुसार—

"चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्"

इस चमत्कार की अभिव्यक्ति के गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार-कुल सात कारण हैं—

गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।।

इन सातों की तुलना कविचन्द्र ने सप्ताङ्गसम्पन्न साम्राज्य से की है, तभी काव्य परिपूर्ण होगा—

'सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते।'

पंचम विलास में केवल आठ ही रसों का प्रतिपादन किया गया है। शिव की अष्टमूर्ति प्रख्यात है। उसी आधार पर आठ ही रस होते हैं—

'शिवोरस' इति प्रोक्तस्सत्यं भावकसत्तमैः।
न चेल्लोकोपकाराय कथमस्याष्टमूर्तिता।।

इसमें भारताभिमत आठ रस हैं। शान्त रस का विवेचन नहीं किया गया है।

चमत्कारयुक्त शब्दार्थ काव्य है—

'वागर्थौ स चमत्कारौ काव्यम्'' (प्रथमविलास)

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि कवियों की कृतियों का उल्लेख किया है। भोजराज ने स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति में वाङ्मय का विभाजन किया था। उसी आधार पर विश्वेश्वर ने भी प्रतिपादित किया—

'चिरं जीवतु वक्रोक्तिस्स्वभावोक्तिश्च तिष्ठतात्।
रसोक्तेरेव काव्यानि ग्राह्याणीति मतिर्मम।। (चमत्कार चन्द्रिका पंचम विलास)

विश्वेश्वर को 'चमत्कार' के प्रतिपादन में अवश्य सफलता मिली है परन्तु गुण, अलंकार आदि के विवेचन प्रौढ़ता का अभाव है। परम्परा से प्राप्त गुण, अलंकार, रीति आदि तत्त्वों की संख्या में न्यूनाधिक्य का वर्णन तो किया गया है, परन्तु उनकी उपस्थापना में तर्क को आधार नहीं बनाया गया है।

7. अप्पयदीक्षित

दक्षिण भारत की विभूतियों में अप्पयदीक्षित का प्रमुख स्थान है। अप्पयदीक्षित बहुमुखी विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे।

अप्पयदीक्षित ने वेङ्कटपति के अनुरोध पर 'कुवलयानन्द' की रचना की थी। यथा—

'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधि कृपानिधेः।।

ये वेङ्कट विजयनगर के राजा वेङ्कट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनका एक दान पात्र 1601 ई. का है। साथ ही अप्पयदीक्षित ने एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि आलंकारिक ग्रन्थों से उद्धरण दिया है। अतः अप्पयदीक्षित का समय सोलहवीं शती का अन्तिम भाग और सत्रहवीं शती का प्रारम्भिक भाग माना जाता है।

अप्पयदीक्षित रचित ग्रन्थों की संख्या सौ से भी अधिक हैं वर्गीकरण की दृष्टि से अप्पयदीक्षित रचित अद्वैतवेदान्त-विषयक, भक्ति-विषयक, विशिष्टाद्वैतवेदान्त-विषयक (रामानुज मत-विषयक) मध्वमतानुसारी ग्रन्थ, व्याकरण विषयक, पूर्व मीमांसा-शास्त्र-विषयक

पण्डितराज जगन्नाथ तैलग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी देवी था। जगन्नाथ की शिक्षा पिताश्री तथा शेषवीरेश्वर और ज्ञानेन्द्रभिक्षु से प्राप्त हुई जो अपने अपने विषयों के प्रख्यात पारंगत विद्वान् थे। दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ से इन्हें पण्डितराज की उपाधि प्राप्त हुई थी तथा शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को इन्होंने संस्कृत पढाया था। 'जगदाभरण' काव्य में इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा की है। पण्डितराज जगन्नाथ का यौवन शाहजहाँ की छत्रछाया में व्यतीत हुआ और इसका उल्लेख उन्होंने गर्व के साथ किया है–

'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।।

तथा–

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरोवा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्।।

पण्डितराज जगन्नाथ का प्रेम लवङ्गी नामक यवन कन्या से हो गया। लवङ्गी सामान्य परिवार की सुन्दरी थी जिसका अनेक श्लोकों में मनोरम वर्णन प्राप्त होता है–

'न याचे गजालिं न वा वाजिराशिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्त कुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु।।

शाहजहाँ के पतन और औरंगजेब के सिंहासनासीन होने पर पण्डितराज जगन्नाथ का समस्त वैभव छीन लिया गया और दिल्ली से निकाल दिया गया। चेतना को एक ऐसा झटका लगा कि उससे आमूल परिवर्तन जगन्नाथ के जीवन में हुआ। विलासिता का परित्याग और आध्यात्मिक भावना का उन्मेष उन्हें पाप का प्रायश्चित करने के लिये बाध्य किया और वे श्रीकृष्ण की आराधना में तल्लीन होकर मथुरा आकर रहने लगे। 'मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते"। यह हरि सेवन मथुरा से चलकर वाराणसी पहुँचा। वाराणसी में यथोचित सम्मान की अनुपलब्धि ने उन्हें पुनः झकझोरा और भक्तिभाव से परिपूर्ण वाराणसी के पंचगंगाघाट पर बैठकर गंगा की स्तुति में 'गंगालहरी' का गायन किया और जलसमाधि लेकर जीवन-लीला समाप्त की।

समकालीन आचार्य अप्पयदीक्षित ने यवनी की घटना को लेकर जगन्नाथ को जातिबहिष्कृत करा दिया था। इसी कारण जगन्नाथ का अप्पयदीक्षित के प्रति अपार रोष उनकी कृति 'रसगंगाधर' और 'चित्रमीमांसाखण्डन' में प्रकट हुआ है।

पण्डितराज जगन्नाथ का समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्यभाग सुनिश्चित है क्योंकि आचार्य ने शाहजहाँ दाराशिकोह तथा आसफखाँ का या तो उल्लेख किया है या उन पर कृतियाँ लिखी हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ अनेक कृतियों के रचयिता हैं जिनमें काव्य ओर काव्यशास्त्र से सम्बन्धित निम्न ग्रन्थ हैं।

1. भामिनीविलास।
2. करुणालहरी।
3. गंगालहरी।
4. अमृतलहरी।
5. आसफविलास।
6. जगदाभरण।
7. चित्रमीमांसाखण्डन।
8. रसगंगाधर।

'रसगंगाधर' एक अप्रतिम कृति है। अलंकारशास्त्र में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना नव्यन्याय की शैली में हुई है। पण्डितराज प्रखर आलंकारिक ही नहीं अपितु उत्कृष्ट कवि थे। 'रसगंगाधर' में प्रदत्त उदाहरण इन्हीं की रचना है। 'रसगंगाधर' अधूरा है। इसकी योजना के अनुसार यह पूरा ग्रन्थ नहीं है। प्राप्त

'रसगंगाधर' में दो आनन हैं।

प्रथम आनन की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है। सर्वप्रथम प्रायः पूर्वाचार्यों के काव्य-लक्षणों का खण्डन सतर्क किया गया है ओर 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' काव्य का लक्षण स्थापित किया गया है। काव्य के हेतुओं में 'प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु निरूपित किया है। काव्य के चार भेद—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम, निरूपित किये गये हैं।

द्वितीय आनन में ध्वनिकाव्य के भेदों को दिखलाकर अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् सत्तर अलंकारों का वर्णन है। उत्तरालंकार का विवेचन करने के बाद ग्रन्थ अधूरा ही समाप्त हो जाता है।

रसगंगाधर पाण्डित्यपूर्ण और महान् ग्रन्थ है। इसके उदाहरण सरल, प्रवाहमयी ओर प्रसादमयी शैली में लिखे गये हैं। प्रत्येक उदाहरणों में कवित्वशक्ति प्रतीति होती है। आचार्य की यह पद्धति है कि वे सर्वप्रथम विषय का लक्षण प्रस्तुत करते हैं, उसका विवेचन किया जाता है, तदन्तर उसका स्पष्टीकरण और उदाहरण दिया जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ श्रेष्ठ कवि और वरिष्ठ सहृदय थे। संस्कृतभाषा पर उनका अगाध अधिकार और अभिव्यक्ति पर महत्त्वपूर्ण आधिपत्य था। जगन्नाथ आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट के अनुगामी है परन्तु उन्होंने किसी कथ्य और तथ्य का अन्धानुकरण नहीं किया है अपितु अपनी अपार प्रतिभा-तुला पर उसे तौला और उपयुक्त होने पर ही उसे स्थान दिया है। यह उनकी विवेचक शक्ति का परिचायक है। उनकी शैली अत्यधिक उदात्त और ओजस्विनी है। प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन करते समय केवल अप्पदीक्षित को छोड़कर संयत और विलक्षण तीव्रता से युक्त होते हैं। उन्हें आनन्दवर्धन और मम्मट का खण्डन करने में तनिक भी संकोच नहीं, यदि उनका मत उनकी निकषग्रावा में ठीक नहीं।

रसमीमांसा का सुन्दरतम विवेचन रसगंगाधर में उपलब्ध है। काव्यप्रकाश में केवल लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त की रसानुभूति विषयक समीक्षा उपलब्ध है, जबकि रसगंगाधर में रसानुभूति विषयक ग्यारह मतों का प्रतिपादन है।

"रत्याद्यवच्छिना भग्नावरणा चिदेव रसः" जगन्नाथ की अमूल्य देन है। उनका गुण विचार तथा भावध्वनि विचार मर्मग्राही, नवीन और सूक्ष्म है। गुणों की अभिव्यंजकता का प्रतिपादन सर्वथा नवीन और तर्कसंगत है।

साहित्यशास्त्र को नवीनविचारों से युक्त करने वाला 'रसगंगाधर' अन्तिम ओर चरमपरिणति है। 'रसगंगाधर' एक नयी और महार्धमणि है। 'रसगंगाधर' में पाण्डित्य और वैदग्ध्य का अपूर्व समन्वय है।

'रसगंगाधर' की एकमात्र उपलब्ध प्रख्यात टीका 'गुरुमर्मप्रकाशिका' है। इसके रचयिता नागेश भट्ट हैं। नागेश भट्ट महान् वैयाकरण हैं तथा इनके अनेक प्रख्यात ग्रन्थ हैं। नागेश भट्ट का समय अट्ठारहवीं शती है। 'गुरुमर्मप्रकाशिका' यथार्थ में 'रसगंगाधर' के मर्मो का प्रकाशन करने वाली वैदुष्यपूर्ण टीका है तथा 'रसगंगाधरकारं' के मन्तव्यों को भलीभाँति स्पष्ट करती है।